मूल्य	छः रुपये
प्रथम संस्करण	जून, १९६१
प्रकाशक	राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली
मुद्रक	युगान्तर प्रेस दिल्ली

क्रम

भूमिका

आधुनिक हिन्दी कविता को नयी ही दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। मैंने इसीलिए वर्तमानकालीन वाद-दृष्टि को छोड़कर काव्य का पहले देखने की चेष्टा की है। काव्य के अनेक पहलू होते हैं किंतु जो उसके राग-पक्ष को प्रस्तुत करते हैं वे उसके अंतरतम से बाहर आए हुए भाव होते हैं। आज उस पक्ष पर आलोचकों की दृष्टि नहीं ठहरती। वे उसके बाह्य का अधिक परीक्षण करते हैं। इसका कारण है निष्पक्षता का अभाव। प्रयोगवाद का विकास आज काव्य के इस मूल स्वर को खंडित कर देना चाहता है किन्तु उसका प्रभाव इसलिए गौण है कि वह काव्य के मूलाधार साधारणीकरण को ही अस्वीकार करता है। जिस एलियट की हिन्दी में नकल हो रही है वह एक धार्मिक आस्था को मानने रखनेवाला व्यक्ति है यानी में अवश्य उसने अपने विशेष संकुचित दृष्टिकोण बना रखे हैं। किन्तु हिन्दी के प्रयोगवादियों में न आस्था है न व्यक्तित्व। छलामात्र ही उनके चमत्कार-व्यवसाय का आधार है जिसके पक्ष में बहुत-सी अनर्गल और आडंबरपूर्ण लेख भी प्रस्तुत किए जाते हैं।

दूसरी ओर समाजपक्ष के नाम पर हिन्दी में अभी तक निर्लज्ज कुत्सित समाज शास्त्र चल रहा है। प्राय लोगों में समाज के नाम पर व्यक्ति को नष्ट तक कर देने वाली भ्रांति चल पड़ी है किन्तु मैं इसको श्रेयस्कर नहीं मानता। हिन्दीकाव्य ने अपने पुरातत्व का ही प्राप्त करने की चेष्टा की है जिसे मैंने यहां प्रतिबिंबित करने का प्रयत्न किया है।

मार्क्सवादी चिंतन ने नया दृष्टिकोण हमारे सामने उपस्थित किया किन्तु किसी भी मतवाद को हमें सापेक्ष बुद्धि से देखना चाहिए। इस मार्क्सवाद के नाम पर बहुत क्षुद्र साहित्य भारत में परिव्यक्त किया जा रहा है और दुहाई यह दी जा रही है कि जो साहित्य इसके दावेदारों द्वारा स्वीकृत नहीं है वह वास्तव में पलायनवादी साहित्य है अतः जनवादी नहीं है। इसलिए आवश्यक यह है कि पहले हम नये चिंतन को भारतीय चिंतन के समक्ष रखकर देखें और तब अपने निष्कर्षों पर पहुंचें क्योंकि किसीको भी आंख-कान मूंदकर स्वीकार नहीं करना चाहिए। यहां हम मार्क्सीय समीक्षा और रसतत्व पर विचार विनिमय करना आवश्यक समझते हैं ताकि हमारा आधार स्पष्ट हो सके।

पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तों ने हिन्दी-साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला

है। जहां एक ओर आदर्शवाद और यथार्थवाद, अतियथार्थवाद और प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद तथा इसी प्रकार के अन्य वादों के दृष्टिकोण से विवेचन हुआ है वहां दूसरी ओर फ्रायडवाद और मार्क्सवाद से प्रभावित समीक्षा प्रणाली का भी प्राबल्य रहा है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने साहित्य में वैचित्र्यवाद के सिद्धान्त को शक्ति दी। यौन व्याख्या ने अन्य प्रभाव प्रकट किए। अधुनातन प्रवृत्तियों में प्रगतिशील आलोचना सिद्धान्त के नाम पर मार्क्सवाद ने ही ऐसे सार्वभौम मानदण्डों को भूत वर्तमान और भविष्य के व्यापक सन्तुलन के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जिसमें अतीत की समस्त परम्पराओं के प्रति स्वस्थ निष्पक्ष और ग्राह्य दृष्टिकोण हो, जो न केवल अतीत के प्रति अजायबघर की दृष्टि से हो वरन् वर्तमान की जटिल परिस्थितियों में समस्याओं का हल बनता हुआ उस भविष्य का निर्माता और निर्णायक हो, जिसमें मनुष्य के विकास की शर्तें पहले से कहीं अधिक उपजाऊ हो जाएं, बौद्धिक विकास के लिए मनुष्यकृत शोषण का अन्त करके विज्ञान के द्वारा एक सुखी समाज बनाने में सफल हो, जहां अनुमान से ही 'प्रभा' का अनुसन्धान व्याख्या में रूढ़िबद्ध न हो जाए किन्तु निरन्तर सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए वैज्ञानिक प्रणाली को अपना वाहन बनाया जाए इसलिए मार्क्सवादी समीक्षकों ने वर्ग-संघर्ष का आधार लेकर दर्शन इतिहास तथा धर्म और इसी प्रकार साहित्य का भी विवेचन किया है। कॉडवेल ने यथार्थ का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सामन्तीय और पूंजीवादी मरणोन्मुखी संस्कृतियों की व्याख्या की है। साहित्य क्या है—इसपर रूस के विभिन्न विद्वानों ने अनेक वाद विवाद किए हैं और अपनी भूलों को बार-बार स्वीकार किया है। हावर्ड फास्ट ने जनता को ही साहित्य का आधार माना है। विभिन्न यूरोपीय लेखकों की पुस्तकें पढ़ने पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साहित्य के विषय में निम्नलिखित तथ्य निकलते हैं

(१) साहित्य क्या है साहित्य आत्मा का निर्माण करनेवाला भावनात्मक चिन्तन है।

(२) साहित्य का जन्म समाज के विकास के बाद हुआ।

(३) साहित्य का मूलाधार भाषा है जो समूह से जन्म लेती है।

(४) समाज के विकास के साथ साहित्य का विकास अन्योन्याश्रित रूप से सम्बद्ध है।

(५) साहित्य का हेतु समाज का कल्याण है और समाज वर्गगत होने के कारण कभी भी साहित्य वर्ग चेतना को प्रकट या अप्रकट रूप से प्रदर्शन किए बिना नहीं रहता।

(६) हम अतीत के साहित्य से उन परम्पराओं को लेना है जो वर्गहीन समाज के निर्माण में सहायक हो सकें।

(७) वर्तमान साहित्य में हम ऐसे साहित्य का निर्माण करना है जो उन परिस्थितियों के लिए बौद्धिक आधार तयार कर दे जिनमें सर्वहारा अर्थात् मजदूर-वर्ग

अपना अधिनायकत्व करके विकास के दौर में एक सुखी वर्गहीन समाज बना सकें।

(८) मनोविज्ञान की वे उलझनें, जो व्यक्तिवाद को जन्म दें, त्याग दी जाएं।

(९) वही साहित्य श्रेष्ठ है जिसने अतीत में प्रकट या अप्रकट रूप से समाज की विषमताओं को प्रदर्शित करके शोषित वर्गों की हिमायत की है जो आज की परिस्थितियों में वर्गहीन समाज के लिए ही विकास-क्रम की सीढ़ी-पर-सीढ़ी चढ़ता हुआ मनुष्य को उठानेवाला है।

इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचकों के पाश्चात्य प्रभाव को हिन्दी में ग्रहण किया गया है। वस्तुतः इनमें से प्राय सभी बातें ऐसी हैं जो न प्राच्य हैं न पाश्चात्य, वरन् सार्वभौमिक हैं। किन्तु हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में तथाकथित कुत्सित समाज-शास्त्री मार्क्सवादियों ने मार्क्सवाद के विकास को मार्क्स के लेखों रूसी और चीनी परिस्थितियों में फिट होनेवाले विचारों को ज्यों का त्यों रूढ़िवादी ढंग से अपनाकर, अपनी मध्यवर्गीय टुटपूंजिया मनोवृत्ति अवसरवाद तथा क्रान्ति के नेतृत्व के मुगालते में अर्थ का अनर्थ किया है। उनको समझकर मार्क्सवाद को रूढ़ि ही नहीं वरन् एक वैज्ञानिक चिन्तन प्रणाली के रूप में नहीं लिया और भारतीय दर्शन इतिहास साहित्य और आलोचनों के क्षेत्रों में इनका ही विकास देखकर सिद्धान्तों का निष्कर्ष नहीं निकाला वरन् ऊपर से 'मजबूरिए-सीढ़री' की तरह थापने की चेष्टा की। इस प्रकार मार्क्सवाद ने यहां जो विदेशी चिन्तन का रूप धारण किया वह भारत की धरती में से अभी तक फूटकर नहीं निकला। जबकि यदि जड़ता से काम न लिया जाता तो ऐसा कभी का हो चुका होता। जब अर्ध शिक्षित नेतृत्व होता है तब ऐसा हो जाना असम्भव नहीं।

हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी अपने सामने संस्कृत आलोचना-साहित्य की लम्बी परम्परा को देखता है और अपनी इस विरासत की वैज्ञानिक व्याख्या और मूल्यांकन चाहता है। वह भरत से पण्डितराज जगन्नाथ तक के विभिन्न मतों को रखता है और कहता है कि मार्क्सवाद जितने तथ्य बताता है रस-सम्प्रदाय उनमें से किसीसे भी कटता नहीं।

यह आवश्यक नहीं है कि धीरोदात्त नायक हो ही तभी रस की निष्पत्ति हो। रस-निष्पत्ति तो 'गोदान' के होरा और धनिया से भी पूर्णरूपेण हो सकती है क्योंकि सम्प्रदाय और दर्शन तथा सामाजिक व्यवस्था ये सब बदलती रहनेवाली वस्तुएं हैं। रस सिद्धान्त के बाह्यावरणों के ही रूप में इन्हें स्वीकार किया जा सकता है। [मूलतः मनुष्य के स्थायी और संचारी भाव वही थे और हैं। इसलिए जो साहित्य केवल प्रचार को आधार बनाता है वह यदि भावों का उद्रेक नहीं कर सकता तो वह पत्रकारिता के समान सामयिक है और उसकी सूचनात्मक उपादेयता है अवश्य परन्तु वह आनन्द नहीं दे सकता।?

रस-सिद्धान्ती इस तर्क को देकर 'कला कला के लिए है', 'कला निष्प्रयोजन

वाद है' 'कला शाश्वत सौन्दर्यवाद है' आदि निष्कर्ष निकालते हैं और कला के लिए युगनिरपेक्षिता को स्वीकार करते हैं। वे यह नहीं मानते कि परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। वे व्यक्ति की मेधा पर अधिक विश्वास करते हैं। वस्तुतः यह दूसरी ओर की जड़ता है। जब हम जड़ता शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा तात्पर्य उस रूढ़िवादी मनोवृत्ति से है जो अपने तर्कों को अकाट्य समझती है और वैज्ञानिक विवेचन नहीं करती। हम दोनों पक्षों का विवेचन सम्यक् रूप से करना चाहिए। रस सिद्धान्ती 'कला कला के लिए' पर तब बल देता है जब रूढ़िगत मार्क्सवादी कम्युनिस्ट-पार्टी में दस्तावेज़ लिखने को कला कहता है। रस सिद्धान्ती निष्प्रयोजनवाद का प्रसार तब करता है जब मार्क्सवादी प्राचीन और अर्वाचीन युगों की सामाजिक वास्तविकता को न समझकर स्थूल परिस्थितियों को ही सामने रखता है। इसी प्रकार शाश्वत सौन्दर्यवाद पार्टियों की बदलती नीतियों के साथ बदलते कार्यक्रमों और मानदण्डों के विरोध में प्रकट किया जाता है।

प्रगतिशील साहित्य-सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाले बहुत-से लोग कुत्सित समाजशास्त्रियों की व्याख्या से मतभेद रखते हैं। अतः विवेच्य वास्तव में इतना दुरूह और जटिल नहीं है जितना लोग समझते हैं।

मार्क्सवाद साहित्य को मनोवैज्ञानिक उलझनों से हटाकर उसे सहज समझ में आने योग्य बनाना चाहता है। भारतीय काव्य सिद्धान्त इसी प्रकार पहले से ही व्यक्ति-अविश्वासवाद के स्थान पर साधारणीकरण का उस समय से प्रतिपादन करता आ रहा है जब यूरोप में कला को जीवन की नकल मात्र कहकर अरस्तू जैसे विद्वान ने स्वीकार किया था। साधारणीकरण काव्य-साहित्य का मानवीय मूल्यांकन है। साधारणीकरण की समान भूमि मनुष्य के भावों की सहज समानता मानी गई है। एक विशेष परिस्थिति में मनुष्य पर एक ही सा प्रभाव पड़ता है। इसलिए कह सकते हैं कि अमुक अवस्था में अमुक परिणाम निकलते हैं। प्रेम ईर्ष्या घृणा भय आदि मनुष्य में थे और हैं और सम्भवतः बने रहेंगे। जो इन भावों को जीत लेता है संसार से विरक्त सन्त हो जाता है। उसके लिए रस-सिद्धान्त नहीं है। अरबल जनक गीता के संन्यासी या बौद्ध भिक्षु के लिए करुण और शान्त रस की सीमाएँ हैं। बर्नार्ड शा ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'बैक टु मैथ्यू सेलाह' के अन्त में ऐसे बौद्धिक रूप से जागरूक समाज का चित्रण किया है जिसमें काव्य, कला और साहित्य को बचपन में खेल के समान ही छोड़ दिया गया है। यदि मार्क्सवाद यह स्वीकार करता है कि मनुष्य के ये भाव शाश्वत रहेंगे तब रस सिद्धान्त का यह भाव का आनन्दपक्ष ठीक बठता है। यदि मार्क्सवाद विकास की अनवरत गति में इन भावों का समग्ररूपेण नाश मानता है जिसमें मानव बौद्धिक चिन्तन प्राधान्य को प्राप्त होगा तो रस सिद्धान्त को कोई विवाद करने की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि रस सिद्धान्त तो सहृदय के लिए ही है। कर्म और पुनर्जन्म माननेवाला व्यक्ति माया में मोह में किसी की मृत्यु पर रोता है

वासना : पुरुष

संसार के इतिहास में किसी भी युग म काव्य की सर्वप्रिय अनुभूति सौंदय था न ही रही है। इसी सौंन्य ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए वन्ना का आश्रय लिया क्योंकि वेदना व्यक्ति से सहज आत्मीयता करके दूसरे के रागपक्ष को जागरित करती है। मनुष्य के समाज म ध्वसात्मक तत्त्वो स मनुष्य की पीढ़िया का ध्यान निरंतर संघर्ष करके माग का एसा माग खोजने में लगा रहा है, जिसम मनुष्य मनुष्य क निकट आ सके।

इस विकास के दो पक्ष रहे हैं। मनुष्य ने एक ओर लोक-कल्याण को महत्त्व दिया है दूसरी ओर उसन आत्मकल्याण की भूमि का भी स्वच्छ करने का यत्न किया है। जिस युग म इन दो पक्षो का तादात्म्य नही होता वहा काव्य जनता म अपना गहरा आधार नहीं बना पाता। विवेक और हृदय का असामजस्य रागात्मक भूमि बनाने म असमय हो जाया करता है। जब क्रिया और चिंतन का सम्यक स्वावलंबन और परापरालबन होता है तब श्रद्धा और आस्था उत्पन्न होती है जिनसे साधारणीकरण होता है। इस रागात्मक सबध की अवस्थाए मनुष्य की आयु के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं किंतु रति सदम होती है। वह रति' यदि व्यक्तिपरक ही है, और आत्मपक्षीय है तो वह लोक-कल्याण म समय नही होती इसीलिए 'रति' का व्यापक स्वरूप मानवीयता' ही हमारे काव्य में स्थायित्व और प्रियता का नया मानदण्ड है। यदि हम इसे स्वीकार नही करते तो युगांतर के साहित्य म युगपरक कवि-आदर्श क वचन के साथ समाज-पर्याय के सत्य का मेल नही बिठा सकते।

आज के काव्य म पुरानी आस्तिकता नष्ट नहीं हुई है आस्तिकता का आधार बदल गया है। उसका पहला रूप प्रम म परिवर्तित हुआ है अत सबसे पूर्व हम उस पर ही दृष्टिपात करना आवश्यक है क्योंकि प्रम को एक विचारधारा के लोग अत्यत पलायनवादी वस्तु समझते हैं जबकि दूसरे प्रकार के विचारक उसे ही मनुष्य का शाश्वत सत्य समझते हैं। सक्षेप मे एक वग प्रेम म व्यक्तिवा॰ देखता है दूसरा वग प्रम म ही आत्मविकास और तृप्ति देखता है। दूसरा वग शृगार को ही काव्य की आत्मा मानता है। पहला वर्ग प्रम के व्यक्तिपक्ष को छोडकर करुण को ही विशेष महत्त्व देता है। केवल करुण का विकास जिस प्रकार मध्यकाल में भक्ति के वैराग्य म परिणत हो गया और सम्प्रदायपरकता म डूबकर रागात्मक पक्ष से दूर हो गया उसी प्रकार नई

कविता में उसका विकास बुद्धिपक्ष को पकड़ता चला गया और उसमें व्याख्यात्मकता अपनी अति को प्राप्त हो गई। केवल शृंगार का विकास अपने व्यक्तिपक्ष में रीतिकालीन काव्य के रूप में वासनापरक बनकर अपने को चमत्कारों में खो बैठा और उसी प्रकार नई कविता में वह पुनरावृत्ति और अस्पष्टता में डूब गया। ये दोनों ही अतिमा हैं जबकि नई कविता ने वास्तव में बीच का मार्ग पकड़ा और इसीलिए उसने अपना विकास किया। प्रेम तो मनुष्य की संस्कृति का सारांश है, जिसको ही मनुष्य अभी तक अनेक प्रयोगों से अनुभूत करता आया है। प्रेम का अस्तित्व अनेक रूपों में है। स्त्री-पुरुष का प्रेम ही इस समाज में प्रेम कहलाता है क्योंकि अन्य आकर्षणों के लिए वात्सल्य और भक्ति के नाम प्रयुक्त किए जाते हैं। स्त्री और पुरुष के प्रेम की उत्कट तीव्रता यौवन में ही होती है। इसका मूल कारण प्रजनन का प्राकृतिक नियम है। मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति ने स्त्री-पुरुष के संबंध को प्रजनन की अनगढ़तामात्र से उठाकर उदात्त से उदात्त किया है। प्रेम यौवन की अभिव्यक्ति है। प्रेम कभी भी व्यक्ति-परकता में समाप्त नहीं हो जाता क्योंकि प्रेम का परिणाम इस संसार में सृष्टि का विकास है। जहां विकास के स्थान पर रहस्यात्मक तन्मयता में सांसारिक जीवन की इति की जाती है, वहां प्रेम वास्तव में किसी प्रकार अपना स्वरूप परिवर्तित कर लेता है। वह भक्ति के ही प्रकारांतर स्वरूप में बदल जाता है। अतः उसे हम शुद्ध प्रेम के अंतर्गत नहीं रख सकते। किंतु उसे इसीलिए छोड़ा भी नहीं जा सकता क्योंकि शुद्ध प्रेम अपने सामाजिक स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाता है और वह उसके ही साधन का रूप बन जाता है। जब कभी समाज में अधिक बंधन होते हैं तब ऐसे ही अनेक प्रतीकों का सहारा लेकर वह प्रकट होता है। जब काम की सीमा पार हो जाती है और व्यक्ति तन्मयता में लीन होता है तब उसकी वासना उसे उसकी जघन्यता से छुड़ा लेती है। प्राचीन-काल में शरीरधर्म को जघन्यता के अंतर्गत नहीं माना जाता था। शरीरधर्म को जघन्यता में मानना ही मध्यकालीन इतिहास में प्रारंभ हुआ जबकि स्त्री और पुरुष में द्वैतभाव उन्नति को प्राप्त हुआ।

साहित्य में प्रेम के अनेक रूप रहे हैं। वैदिक साहित्य में हम प्रेम की उत्कटता अवश्य पाते हैं किंतु उसमें शारीरिक मिलन का ही प्रमुखत्व दिया जाता था। परवर्ती वैदिक साहित्य और महाभारतीय साम्य में भी हम ऐसा ही मिलता है। उस समय एक प्रमुख विशेषता यह है कि स्त्री अपने को गुप्त नहीं समझती। वह पुरुष के शरीरधर्म को अपने शरीरधर्म के लिए आवश्यक समझती है और इसीलिए पुरुष से स्वच्छन्दता से कहती है कि आओ मुझ गर्भाधान कराओ। हमारे युग में नारी ऐसा नहीं कहती। रामायण में हमें यद्यपि यौन वर्णन तो काफी सुन्दर मिलते हैं परंतु पुरुष भले ही विरहकातर होकर शरीरधर्म की ओर इंगित करते मिलते हैं किंतु नारी के रूप में हम वासना कम मिलती है। हृदय की भावनाएं तथा पवित्रता की ओर अधिक इंगित मिलता है। लौकिक संस्कृत के काल में हम जहां पुरुषों के वर्णन में वासना अधिकाधिक मिलती

जाती है वहाँ नारी अधिकाधिक शारीरी प्रेम की तन्मयता की ओर बढ़ती जाती है। परवर्ती संस्कृत काव्य में हम पुरुष की ही वासना दिखाई देती है। अपभ्रंश काव्य में पुरुष एक ओर वैराग्य की बात करता है और नारी की निंदा करता है दूसरी ओर वह नारी को अपने विलास की वस्तु बना लेता है पर नारी का मातृत्व अधिक सम्मान प्राप्त करने लगता है। हिन्दी काव्य की वीर-गाथाओं में नारी का यौवन केवल भोग का साधन है। भक्ति-काव्य में वैराग्य में युवती की निन्दा है किन्तु उनके मातृत्व की उपासना है। तत्कालीन सूफी कवियों में हम युवती के वर्णन की प्रशंसा भी पाते हैं और प्रेम में पुरुष को भी उसके लिए समान रूप से आकर्षित पाते हैं, जबकि वह प्रेम स्वरूप के आकर्षण से ही जन्म लेता है। रीतिकाव्य में नारी का नखशिख-वर्णन है जिसमें स्त्री-पुरुष की शारीरिक वासना को ही विभिन्न रूपों में वर्णित किया गया है। हिन्दी के जागरण-युग में हम नारी का सम्मान फिर देखते हैं और पुरुष को नारी के प्रति अधिक सम्मान देते हुए पाते हैं। द्विवेदी-काल में वासना के पक्ष को पारिवारिक मर्यादा में ढक दिया गया, किन्तु छायावादी काव्य में प्रेम को फिर स्वतंत्र करने की चेष्टा की गई। उसके मूल में शरीर की वासनाओं का दमन ही था। नयी कविता ने इस दमन को उन्मुक्त रूप देने की उन चेष्टाओं को अस्वीकार करने का प्रयत्न किया जो कि समाज में शरीर और मन का सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ थी। इसलिए उसने शरीर-धर्म की पवित्रता का स्वीकार किया और उसका हल निकाला कि स्त्री और पुरुष को एक-दूसरे का अपना पूरक समझना आवश्यक है और स्त्री को भी प्रेम का स्वतंत्रता मिलना चाहिए। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य में ईश्वर और रहस्यभावना की साधना स्त्री-पुरुष के प्रेम के उदात्तीकरण का माध्यम थी। छायावाद ने उसी पुरानी परंपरा को और भी जोरों से किन्तु 'अरूप' की अस्पष्टता में तन्मय करके पकड़ा था। नये कवि ने उदात्तीकरण के लिए यह प्रयत्न किया कि वह अपने लौकिक प्रेम को प्रत्येक अंश में पवित्र माने और किसी अरूप की शरण में नहीं जाए। यहाँ हम यह अवश्य याद रखना चाहिए कि उसने छायावादी परंपराओं से एकदम ही नाता नहीं तोड़ा वरन् उनमें से विकास किया। इसलिए हम उसके स्वरूप-परिवर्तन का क्रमिक विकास भी मिलता है।

पाश्चात्य प्रेम की भावना और भारतीय प्रेम की तीव्रता तो एक-सी होती है, किन्तु दोनों के बीच में ऐतिहासिक परंपराओं के कारण भेद रहा है। अपने यौन संबंधों में पाश्चात्य जगत् हमारे प्राच्य जगत् की तुलना में कहीं अधिक स्वतंत्र है। यद्यपि आज भारतीय नारी अपने बंधन तोड़ रही है किन्तु उसने अभी तक पाश्चात्य जगत् के यौन मापदण्डों को अपना आधार नहीं बनाया है।

प्रेम हमारे सबके हृदयों में रहता है। किन्तु वह अपनी अभिव्यक्ति अपने समाज के नियमों के अनुकूल रहकर किया करता है। शिक्षा का प्रभाव भी अपना बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। बहुकुटुम्ब प्रथा में जिस प्रकार दाम्पत्य प्रेम एवं पारिवारिक कर्तव्य

से बधा रहता है, उसी प्रकार केवल पति-पत्नी के परिवार म उस भावना का प्रभाव पाया जाता है। प्रेम को यदि एक आवेग-मात्र माना जाए तो वह वास्तव म प्रेम नही है। प्रेम स्त्री-पुरुष का स्थायी सम्बन्ध है। यह भारतीय चिंतन म अपनी मर्यादा रखता है। पाश्चात्य साहित्य मे स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध की क्रिया को भी प्रेम करना ही मानते हैं—टु मेक लव मेड लव' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जबकि हमारे आधुनिक साहित्य म इसका प्रचलन नही है।

प्रेम की मूल भावना प्राकृतिक है और उसका वर्ग-सम्बन्ध से कोई सम्बन्ध नही है किन्तु प्रेम के समाज-पक्ष का वर्गीय जीवन से बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जब वर्गों म रहनेवाले प्राणियों का हृदय-पक्ष मुखर होता है और उसकी समवेदना के द्वारा साधारणीकरण होता है तब श्रद्धा उसका मूल बनती है। किन्तु हृदय-पक्ष तो परिस्थितियों मे ही प्रकट होता है। वे परिस्थितियां सदैव रहती हैं। उनकी अवस्थिति भाव-पक्ष पर अपना प्रभाव डालती है। हम उस कुरता कहते हैं जो यह कहा जाता है कि विभिन्न वर्गों के लोगो मे विभिन्न प्रकार से मनुष्य की प्रवृत्तियां काम करती हैं। प्रवृत्तियां समान रहती हैं। भाव उनपर जहा तक आश्रित होते हैं समान रहते हैं। किन्तु भाव मे विचार सत्त्व समन्वित रहता है। विचार का विकास वर्ग और शिक्षा तथा ऐसे कारणो पर निर्भर होता है अत वर्ग का भी प्रेम पर प्रभाव पड़ता है जिसे हम यथास्थान स्पष्ट करते चलेंगे।

नये युग की चेतना म यदि प्रेम ही अस्वीकृत किया जाएगा तो क्या ऐसी मान्यता कभी समाज स्वीकार कर सकेगा? यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि कवि का हृदय कविता म भावाभिव्यक्ति करते समय जितना सुसस्कृत होता है उतना अन्यत्र का नही। अत उसकी अभिव्यक्ति अन्या की तुलना म कही अधिक सुन्दर हुआ करती है। हमारा युग एक सक्रान्ति का युग है और यहां संक्रान्तियों म स सक्रान्तिया जन्म लेती हुई दिखाई देती हैं। हम अपने समस्त वतमान के इतने निकट हैं कि अभी पूरी परख करनेवाली दूरी को हमारी दृष्टि नहीं पकड पा रही है। हम तो वास्तव का ज्ञान तब ही हो सकेगा जब हम सापेक्ष तुलना करने की दूरी' प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त हो गया हो। किन्तु उसके बिना भी आज के युग म हम उसकी झलक प्राप्त कर सकते हैं। उसका कारण है कि हम बहुत तेजी से बदलत चले जा रहे हैं। हमारे विचार ही तो नये युग की सृष्टि कर रहे हैं।

पुरुष का समाज म अधिकार है। वह स्वामी है। उसन शासन किया है। वह मर्यादाओं का निर्माता रहा है। सारे सम्बन्धों की निर्धारिति उसीके हाथ म रही है। उसन जीवन के सम्बन्धों की माप-जोख की है। अतीत म वह भोगी था दर्शन म इसी के प्रतिरूप भोक्ता को प्रधानता दी। और भी व्यापक रूप में भोक्ता का अर्थ भोग्य में बदला किन्तु वह सत्य समाज के व्यवहार म नहीं उतर सका। यद्यपि मातृ-सत्ताक समाजकालीन चिंतन ने शाक्त परम्पराओं में विकसित हो जाने पर शिव म अपना

इकार स्थापित करके उसके शिवत्व को मुखर किया किन्तु साधना के क्षेत्र म देवी अपने समस्त रूपों म माध्यम बनी रही अन्त नहीं हो सकी। जब स्थूल से मनुष्य सूक्ष्म की ओर अग्रसर हुआ तब उसने प्रेम की भावना का तो त्याग नहीं किया वह कामुकता का अवश्य विरोधी हुआ और वैष्णव चिंतन की राधा और कृष्ण का द्वन्द्व जन्मा। उसने भी समाज के गतिरुद्ध हो जाने पर रीतिकालीन काव्य की रूढ़िबद्ध कामुकता म अपना अन्त किया। द्विवेदी-काल म उसका फिर उपयोगितावाद के आधार पर विरोध हुआ। उसके अनन्तर निराला म अवश्य हम स्वर की नवीनता प्राप्त हुई। परन्तु वास्तविक परिवर्तन सामूहिक रूप से नये कवियों द्वारा ही उपस्थित किया गया। सुमित्रानन्दन पंत ने रूप की माधुरी की ओर अधिक दृष्टिपात किया। किन्तु उनके काव्य म पौरुष का अभाव ही सा उपस्थित रहा। नये कवि को इस विषय म न सुमित्रानन्दन पंत से तृप्ति हुई, न सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' से। उसने नया मार्ग निकालने की चेष्टा की। निस्सन्देह इन कवियों म से कोई भी अकेला ऐसा नहीं उठ सका जिसने नये मार्ग का निर्माण कर दिया हो इसीलिए समूह-युग में व्यक्ति को अलग पहचानना कठिन हो गया।

पुरुष की वासना प्रवृत्ति के क्षेत्र म नहीं बदली न भाव-पक्ष म वह बदली विचार के क्षेत्र में। उसका नारी से समाज म पुराना सम्बन्ध क्रमशः परिवर्तित होने लगा। यही नहीं उसके अपने विश्वास भी वही नहीं रहे जो उसके पूर्वजों के थे। इस प्रकार उसमें द्वन्द्व का जन्म हुआ और उसके भीतर की कोमलता छटपटाने लगी। उसके सामने नारी का कोमल सौन्दर्य अपने आपमें सबसे असंबद्ध इकाई नहीं रहा बल्कि वह उसे सापेक्ष रखकर अन्यों के साथ म ही देखने लगा। कवि कहता है

> तुम्हारी रंगीन जुल्फों को सहलाती
> मेरे प्यार की लोलायित उंगलियों पर
> शोषण के भयंकर भुजंगम दम तोड़ रहे
> जीवन-जमुना के नये प्रवाहों पर
> जन-जन के बेटे, नये युग के कन्हैया बनकर
> नरभक्षी लोभ के कालियानागों का
> कर रहे दमन उन्हें एड़ियों से रौंदकर।
> और तुम्हारी चमेली-सी बाँहों की
> भँवराली मोहिनी रोम-कुंजों में
> उतर आई है नये प्रणय की मुक्त रास रजनी।
>
> —वीरेन्द्रकुमार जैन

प्यार और शोषण की तड़पन दोनों ही कवि को झकझोर उठती हैं। वह देखता है कि अब उसकी प्रिया स्वतन्त्र रूप से उसीकी नहीं है। किन्तु साथ ही वह यह भी देख रहा है कि अब नायकत्व जन जन के बेटों के हाथ म चला गया है। नरभक्षी

लोभ के कालियानागों के फन विष उगल रहे हैं किन्तु नये कन्हैया जीवन रूपी यमुना के नये प्रवाहों में अपनी एड़िया से उन विषाक्त फनों को कुचल रहे हैं। धीरेन्द्रकुमार जैन की कल्पना-शक्ति बहुत ही उर्वर है। उसकी कविता ऐसी है जैसे गहरे नीले उथल पुथल करते समुद्र के साथ तीरवर्ती घनी हरियाली और रंगीन आकाश, तीनों एक साथ उपस्थित हो गए हों। उसमें जीवन की यातना है ऐसी जिसकी प्रतिध्वनि आकाश तक गूंजती हुई सुनाई देती है किन्तु आशा की रंगीनी और नवजीवन की हरियाली भी साथ-साथ दिखाई पड़ती है। 'चमेली-सी बाँहों की अधरालों' में इसी प्रकार की रंगीनी है जो अन्य वर्णित वस्तु के साथ अपना चमत्कार उत्पन्न करती है।

किन्तु नारी अभी भी पुरुष के लिए एक रहस्य है। संभवतः वह सदैव बनी रहेगी कम से कम उतनी ही जितना कि पुरुष नारी के लिए है। हमारी सभ्यता ने काफी अंश तक हमारे सम्मिलन को दूर किया है और हमारी यौन विकृतियों को रूढ़ियों ने उभारा है। ऐसा ही चित्र राजेन ने उपस्थित किया है

आज तुम्हारे यौवन गिरि की
गहन अतल घाटी गह्वर में
पड़ा अकिंचन पुरुष चीखता
नारी ओ! विराट मायाविन!
पार न पाऊँ हाथ उठाऊँ
थाह निलय के ऊपर धाऊँ
अगन भुजाओं को उमड़ा भी
कसे यह धरा गह पाऊं!
मृदुल उरोजों के यमल सा
केवल एक किरन है आती
आज पुरुष का अणु अणु चेतन
उत्पादक उर्वर कर जाती—
भीनरोम द्युति के द्वारों से
घिर अपार सुषमा मुस्कराती
उन अघोर गिरि के शिखरों पर
यह रति फूटी आती।
आज तुम्हारे रोम रोम में
डूब अजान पंठ अगम तक
अधकार के अतल सिंधु में
पा लेता यह लहर रश्मि धन।

पागल आलिंगन विभोर हो
रिक्त आह! रोता फिर जगकर
आह, भुजों मे शेष भार तन
दूर-दूर होतीं तुम द्युतिलय।

—राजेन

कवि नारी की छवि को विराट मायाविनी कहकर उस अंक में समेट लेना चाहता है, किन्तु लगता है कि वह उसकी पूर्णता को समेट नहीं सकेगा। वह उसके उरोजों म से ज्योति की किरणें छनते देखता है जैसे मा के पयस्विनी स्वरूप की वह एक झलक प्राप्त कर रहा है। फिर उसके राम रोम म नवजीवन की शक्ति हुंकारती है। किन्तु अंधकार मे प्रकाश प्राप्त करने की तृष्णा उसम अतृप्ति भरती है। उसका मिलन कभी पूर्ण नहीं होता। नारी को वह अपने आपम कभी भी सीमित नहीं कर पाता। वह प्रकाश की भांति दूर होती हुई उसम लय हो जाती है।

यह वर्णन नारी को प्रस्तुत से अप्रस्तुत म परिवर्तित करके उसकी वास्तविकता को एक अरूप म बदलता चला जाता है। इसम कमनीय का विभ्रम है। किन्तु बच्चन दूसरी ओर अपनी वासना को समाज के सामने उपस्थित करता है। वह नये स्वरों म कहता है

पाप की ही गैल पर चलते हुए ये पाँव मेरे
हँस रहे हैं उन पगों पर जो बंधे हैं आज घर म।
हैं कुपथ पर पाँव मेरे आज दुनिया की नजर में!!

×

मैं कहाँ हूँ और वह मादक मधुशाला कहाँ है!
विस्मरण दे जागरण के साथ मधुवाला कहाँ है!
है कहाँ प्याला कि जो दे विस्मृत्ति विस्मृत्ति म भी!
जो हुआ तो ले मगर दे पार कर हाला कहाँ है?
देख भीगे होंठ मेरे और कुछ संदेह मत कर
रक्त मेरे ही हृदय का है लगा मेरे अधर में।

×

वह विद्रोही है। वह बंधन को स्वीकार नहीं करता। दुनिया की नजर म उसके पाव बुरे रास्ते पर हैं। किन्तु उसका मार्ग मधुशाला को ढूंढना है। पर वह उसे मिलती ही कहां है! उसकी अपनी वेदना को उसके हृदय के रक्त को भी क्या संसार मदिरा समझ सकता है?

राग के पीछे छिपा चीत्कार कह देगा किसी दिन
हैं लिखे मधुगीत मैंने हो खड़े जीवन-समर में!

—बच्चन

उसे विश्वास है कि उसके समस्त राग के पीछे एक पीड़ित हृदय है। चीत्कार

है वह, किसी न किसी दिन वह फूट ही पड़ेगा। तब वह कहेगा कि जीवन के समर में खड़े होकर कवि न यह मधु के गीत लिखे हैं या मधुगीत लिखे हैं। मधु में प्रलय है। यह विद्रोह की मिठास भी है जीवन की नई कल्पना की मिठास भी। इसका न कोई विभाजन है न इसकी अनुभूति म कहीं रुकावट है। यह तो घोषणा है। बच्चन की अभिव्यक्ति जितनी स्पष्ट होती है वह अन्यत्र दुर्लभ ही कही जा सकती है। बच्चन शब्दों का पारखी है। वह सरल से सरल शब्द चुनता है और जब वह हृदय के मोतों को पहचानता है जिनमें से वह भीतर घुसने का मार्ग जानता है। बच्चन की वासना कभी भी व्यक्ति की वासना नहीं रही यद्यपि बच्चन ने सन्त व्यक्तिमूलक अभिव्यक्ति की है। उसका व्यक्ति सदैव प्रतिनिधि बनकर साहित्य म आया है और इसीलिए बच्चन अन्यों की तुलना में बिकता भी अधिक है। उसका प्रभाव बाद के कवियों पर काफी गहरा पड़ा है

एक भूल करिन बन गई है जनम जनम की
इसीलिए हर साँस मनाती वषगाँठ मातम की
ऐसी वषगाँठ जिसका उपहार मौत सपनों की
ऐसे उत्सव में न जरूरत होती है अपनों की
इतने दुखी दिये उजला भी है निशि के आँचल मे
पर बेसुध भगवानों का विश्वास न कर पायेंगे
मेरे गीत गीत, तुम्हारी प्यास न हर पायेंगे।

—मुकुटबिहारी सरोज

इस स्पष्टता के बड़े ठोस कारण रहे हैं। एक उसकी गेयता का प्राधान्य दूसरा कवि-सम्मेलन म कविता सुनाना। सुमित्रानंदन पंत म गेयता उतनी नहीं जितनी नये कवियों में है। इसका मूल कारण श्रोता के प्रति सान्निध्य ही है। उर्दू काव्य की नकल करने से हिन्दी को श्रोता अवश्य अधिक मिले हैं। इससे एक लाभ भी हुआ है कि उर्दू की चमत्कारप्रियता हिन्दी का अपना अंग बन गई है। उक्ति चातुर्य रीतिकालीन रचनाओं म भी मिलता है। किन्तु वह पैटर्न कृति है जब कि नयी हिन्दी कविता म वैविध्य है। महादेवी वर्मा म गेयता है पर सहज स्पष्टता नहीं। नये कवि को वह मार्ग छोड़ना आवश्यक हो गया। नयी कविता म कवि के कण्ठ का इतना प्राधान्य है कि वह एक दोष की सीमा तक पहुँच गया है। मैंने स्वयं रामधारीसिंह 'दिनकर' को सुना है और वे अपनी जठराग्नि को प्रज्वलित कर देनेवाले एक प्रचण्ड स्वर से कविता-पाठ करते हैं कि कुछ लोगों को मैंने स्वर-गाम्भीर्य पर ही उनको महाप्राण कहते हुए भी सुना है। मैं दिनकर की कविता पर इस समय राय नहीं दे रहा हूँ। कविता काव्य के नये आवश्यक अंग की ओर ध्यान दिला रहा हूँ। जिससे सहज यश प्राप्त होता है। पहले हिन्दी में इसपर इतना जोर नहीं दिया जाता था। किन्तु फिर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि स्वर ही भाव पर प्राधान्य प्राप्त कर गया है।

नये कवि ने स्पष्ट ही छायावादी 'प्रियतम देवता' का विरोध किया और स्पष्ट स्वरों में कहा

हाँ प्रेम किया है प्रेम किया है मैंने
वरदान समझ अभिशाप लिया है मैंने।
अपनी ममता को स्वयं डुबा कर उसमें
वर्जित मदिरा को खींच पिया है मैंने।
मैं दीवाना तो भूल चुका अपने को
मैं ढूँढ़ रहा हूँ उस खोए सपने को
देकर मैं अपनी चाह आह लाया हूँ
प्राणों की बाजी हाय हार आया हूँ।
है कसक रही अब उर में बीती बातें
घिर आती हैं पीड़ा बन खोई रातें।
मेरे जीवन में धुंधला-सा सूनापन
है उमड़ पड़ा बन आँसू की बरसातें।

—भगवतीचरण वर्मा

उसने सीधे ही प्रियतमा से बातें प्रारम्भ कर दीं। हमारे यहाँ तो अपनी स्त्री से भी सबके सामने बातें करना वर्जित था और कहाँ नया मोड़ ऐसा आया कि उसने बातें तो की हीं भी तो एकदम प्रेम का और उसकी भी घोषणा करते हुए। तरुण रक्त था जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता चाहता था। वह यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव में आ रहा था। वह दाम्पत्य जीवन के नये मानदण्डों से परिचित हो रहा था अपनी प्राचीन बहुकुटुम्ब-पालन करनेवाली व्यवस्था को खण्ड-खण्ड होते देख रहा था। तिस पर कवि उस समय राजनीतिक पराभव में था अन्न व्यक्तिगत जीवन में कुछ उसे मिला भी न था कि वह उसपर सन्तोष कर लेता। इसलिए उसके प्रेम की अभिव्यक्ति एक झुंझलाहट बनकर भी हुई कि मैं दीवाना हूँ मेरे पास कुछ नहीं है अब उसके पास फिर भी किन्हीं विगत स्वप्नों का भण्डार बाकी था जिसका वह बार-बार हवाला दिया करता था। भगवतीचरण वर्मा बच्चन और नरेन्द्र के ऐसे स्वर प्रायः समकालीन ही थे। प्रेम यहाँ मानो एक जुझारू शक्ति बनकर उतरा। उसमें तन्मयता उतनी नहीं थी जितनी उत्कटता। व्यक्तिपरक असंतोष तीव्रतम था किन्तु वस्तुतः वह युग का ही बिम्ब था जिसका भी प्रतिनिधित्व वास्तव में मध्यवर्गीय युवक-वर्ग करता था। नारी के प्रति दृष्टिकोण बदलने लगा। अब वह नारी के प्रेम का याचक बना

मैं जन्म जन्म का याचक हूँ
तुम स्नेहमयी कल्याणी हो।
मैं अटल प्रेम का अभिलाषी
तुम मीरा-दरद-दिवानी हो।

समझूँगा भाग्य खुले मेरे
तुमसे जीवन को ज्योति मिली।
संसृति का शाश्वत सत्य यही
यह सुखद तुम्हारा आलम्बन।
तुम मिलीं मुझे वरदान मिला
अवदान नियति का नित नूतन।

—क्षेमचन्द्र सुमन

उसकी प्रिया भी प्रेम-दीवानी थी। थी या नहीं यह तो उतना स्पष्ट नहीं होता किन्तु प्रायः कवियों में इसका साक्ष्य मिल ही जाता है कि तड़पन एकतरफा नहीं इश्क की दीवार अकेली नहीं खड़ी। यकौल मजाज़ के हदें वह बाँध रखी थीं हरम के पासबानों ने कि बिना मुजरिम हुए पयाम पहुँचाना मुश्किल हो रहा था। उन दिनों जब ये कविताएँ खुले आम सुनाई जाने लगीं तब एक ज्वार-सा आया था। ऐसा लगने लगा था कि कोई नया क्षितिज हिन्दी में बड़ी ही शीघ्रता से खुलनेवाला है। उसका अन्त हुआ अचानक ही सामाजिक पक्षवाली कविता के युग में जिसने एकदम व्यक्ति और समाज-पक्ष के बीच में दिखने भर को दरार-सी डाल दी। यद्यपि आलोचकों का मत यह है कि ये प्रेम की कविताएँ अधिक महत्त्व नहीं रखतीं, किन्तु मेरा विचार है कि ये कविताएँ बड़ी ही सचाई से लिखी गई हैं और इनमें हमारे सांस्कृतिक विकास की एक पूरी मंज़िल छिपी हुई है। इनकी तो कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन कविताओं में एक ओर हृदय को छूने की शक्ति है तो दूसरी ओर चमत्कार भी उत्पन्न करने की शक्ति है। प्रायः हम उदासी से भरा हुआ एक भारालसित स्वर इनमें पाते हैं।

कवि की भावना सहज की ओर उन्मुख है। उसकी वेदना अव्याहत है और उसे जगत् में अपना सामंजस्य नहीं दिखाई देता

मेरी पूजा के कोमल
फूलों को जाने
क्यों सब अंगार समझते हैं।

मैं नेह लुटा दूँ
सबके मन मन में
मेरे अन्तर की
केवल साध यही
इसलिए मुझे सब
अपने से लगते
इस दुनिया में
मेरा अपराध यही।

कया से कया यह
　　प्रप्लव चाँदनी-सा
　　　　सब मेरा पावन प्यार समझते हैं।
यह ग्रांख उसीकी
　　सुधि म भर आती
　　　　सब पावस का सिंगार समझते हैं।
—जगत्प्रकाश चतुर्वेदी

पूजा के कोमल फूलों को जहा अंगार समझा जाता हो वहा कवि क्या करे? लेकिन यह कहना भूल है कि कवि क्योंकि अपने तक ही मानिन है इसलिए औरों को उनसे महानुभूति होने की आवश्यकता भी नहीं है। वह तो सबके मन में स्नेह लुटा देने के लिए आतुर है। उसका अपराध केवल यही है कि उस सब ही अपने-से लगते हैं। समाज बधन बाधता है जाति म धन के वग के और कवि इनमें स एक को भी स्वीकार नहीं करना चाहता। यह सारा प्यार जो व्यापक रूप से बिखरा है मूलत है एक प्रेयसि के प्रति ही। उसीके लिए हृदय में कमक उठती है और आँखें बारम्बार छलछला आती हैं। प्रेमी का हृदय ही तो इतना व्यापकता रखता है कि सबसे सम व्यवहार करे क्योंकि प्रेमी का हृदय दुख सहन-सहते इतना पक जाता है कि उस सब का दुख अपना ही दुख लगने लगता है। प्राय भक्त कवि पहले प्रेम ही करते थे। भक्ति प्रेम का ही रूप-परिवर्तन था। आस्था के अनेक रूप हैं। वह न जाने किस स्रोत से कौन-सी चेतना ग्रहण कर लेती है।

उसके हृदय में सहसा ही तो उसका उदय हुआ। पहले वह इतनी अनुभूति एकत्र नहीं कर सका था

　　मिले नयन से नयन हृदय से हृदय मिल गया
टकराए इन तारों स यों तारे वे दो
विद्युत् ने कोना-कोना झकझोर दिया हो
हृदय हिमालय पाते ही आघात हिल गया।
　　लिया दृगों ने चित्र लगाया मन-मंदिर में
　　पूजा करने लगा पुजारी बनकर फिर मैं
　　अँधियारी घाली में जगमग दीप जल गया।
एक नीड़ स पक्षी आकर लगा चहकने
घूँघट खोल हँसी कलियाँ औ' लगीं महकने
मधुऋतु स मिलते ही यह उद्यान खिल गया।
—प्रेमनारायण गौतम

नयन से नयन मिले। हृदय स हृदय मिला। दृष्टि के मिलते ही बिजली-सी दौड़ गई। एकाकीपन का हिमालय जैसा हृदय भी उस दृष्टि के आघात से प्रकम्पित हो

उठा मानो सदियों की नींद टूट गई। हिमालय तो वह था ही। रस की गंगा बहते क्या देर लगती है। किन्तु फिर कवि का हृदय एक मन्दिर बन गया। वह पुजारी बनकर पूजा करने लगा। जहां पहले सूनेपन का अन्धकार था वहां दीप जलने लगा। कवि और भी नई उपमा प्रस्तुत करता है कि पहले यहां कोई नहीं था, किन्तु जब नीड से पक्षी आकर चहकने लगा तो कलियां घूंघट खोलकर हंसने लगीं महकने लगी। और जैसे मधु ऋतु के आगमन से उद्यान खिल जाता है उसी प्रकार कवि के मानस में प्रिया के छवि-परिचय से अनेक वसन्त कुहुक उठे और आशा की कलियां खिलने लगीं जीवन गन्धित हो गया।

इस प्रकार के वर्णन में क्या हम जीवन की परिणय-सम्बन्धी भावनाओं के लिए नये प्रतीक नहीं मिलते ? जगतप्रकाश की प्रिया गंगा-स्नान करने जाती है। वह गंगा से वरदान मांगती है। किन्तु कवि का मानस नये विचारों में बह रहा है। वह तो गंगा का ही बांध लेने की स्पर्धा रखता है। कहता है

अपनी कोमल अंजलि में गंगाजल लेकर
तुमने भी वे पहले मूंदी होंगी पल भर
फिर तरलत्रिवेणी से मुसकाकर मन-मन में
मांगा होगा कुछ मधुर-मधुर मनचाहा वर
मैं क्या मांगू पाहन के मौन देवता से
जिसने अनबोलें पूजा सदा सही मेरी।
मैं एक लहर बन पाता तो गंगा से वह
सब पुण्य बांध लेता था तेरे अंचल में
यमुना से जाकर फिर चुपके-चुपके कहता
कोई राधा आई है फिर तेरे जल में
पानी की एक बूंद सा भी मैं अधिप बिना
मन की मन में ही सारी बात रही मेरी।

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

किन्तु अन्त में वह अपनी विवशता प्रकट करते हुए युग की वास्तविकता को पहचान लेता है और कहता है कि मेरी तो सारी बात मन की मन में ही रह गई। पुरुष की वासना सम्मुख उसके स्वामित्व के अनुकूल निर्वाध नहीं है वह तो बन्धनों में आबद्ध है तभी उसका निराकरण करने की भावना अपना प्रतिकार मांगती है।

कवि कहता है कि वह सपनों में बहक-बहककर आती है मानो उसके चित्र मलय के झकोरों के समान हैं जो बहुत ही चंचल हैं। किन्तु वह नारी को समझ नहीं पाता। इतना जानता है कि मिटकर भी वह अभी तक मिट नहीं सकी है वह अपनी सत्ता को पूर्णतया खो नहीं सकी है। कितने अंश तक यह नारी चित्र कुलीन भावनाएं ही प्रतिबिम्बित करता है, यह तो स्पष्ट ही है, किन्तु वह नारी को युग-वन्दिनी ही

वासना पुरुष

बनाकर नहीं देखता

फिर प्राणों म रुदन भर गई
सपनों म बह-बहकर आकर!
एक मधुर रस पिघली रेखा
महाकाल के महाकाश म
युग-युग मिटती आँसू रेखा
मिट मिट कर भी मिट न सकीं तम
तरल विधुर कातर छविवेया!
तुम क्या हो मैं समझ न पाया
मैं ही क्या हू जान सका क्या
चिर रहस्य दो बिन्दु मचलते
कौन अतल चिर साम्य निहित था,
कि तड़पते परवश व्याकुल
घुल न सके तन-मन सुदर हस
कौन तन्तु युग-युग जीवन के—
बाँध रहे प्राणों को कसकर
तुम न मिलीं पर अतल महानिधि
जीवन तारों से छहरा छवि
अपने अथक मौन निझर स
कर प्रगटी अब भी उवर बन
ओ जीवन के पोषे वभव!
ओ! ओ—वल प्राणों के आश्रय!
तेरी उस शीतल छहरन म—
धधका यह विद्रोही यौवन!
विद्रोही तुम हो न सकीं पल
शक्ति मिटा युग-युग की दासिन
आह त्याग की यह प्रवञ्चना!
छली गइ नर-पशु से शासित
महा शक्ति जीवन की प्रेरा
जान सकेगी भावी नारी
महाप्राण के मुक्त निलय से
जो पुलकेगी हस चन्दा सी!

फिर प्राणों में रुदन भर गई
सपनों में बह बह के आकर
कब तक बहती ही जाओगी
ओ पगली सरला मायाविन !!

—राजेश

वह मानता है कि नारी ही युगान्तर से पुरुष के जीवन को उर्वर करती रही है। वह मौन है किंतु फिर भी निर्झर के समान है। इस जीवन का वैभव थोथा है। तभी वह नारी से कहता है कि तू इस प्रोज्ज्वल जीवन का माध्यम है। असल में तो तेरी शीतल छहरन में ही विद्रोही यौवन धधका है। किंतु उसे लगता है कि नारी पल भर भी तो विप्लविणी नहीं हो सकी। वह तो युग-युग की दासी है। उसने अपने आपको छला है छला है क्योंकि उसने त्याग की प्रवंचना में अपने भय को आश्रय दिया है और अपनी महानता कहकर अपनी कायरता को छिपाया है। क्यों नहीं वह विद्रोह कर उठती ? कवि को आक्रोश है कि नर-पशु ने इसपर शासन किया है। इसे सतीत्व का जामा पहनाकर इसका छला है। किंतु भावी नारी के प्रति कवि उदासीन नहीं है। वह उसे जीवन को प्रेरित करनेवाली महाशक्ति कहता है कि भले ही आज नारी अवरुद्ध हो वह कल अवश्य अपने को पहचानेगी। वास्तव में पुरुष और नारी एक ही के दो प्रतिरूप हैं उनका निलय एक ही है वह महाप्राण है। किंतु अपनी यातना को फिर असमान नारी सह कैसे लेती है ? और सहते हुए अपने मन में एक न्याय भी प्रस्तुत करती जाती है कि वह धर्म संस्कार मर्यादा और नियम के अनुसार काम कर रही है। कवि नहीं चाहता कि नारी अपने को इस प्रकार अपनी ही सीमा में घिरा रखे। उसे इसका दुःख इसलिए भी अधिक है कि भावी तो भावी है उसकी वर्तमान वेदना तो उससे कोई लाभ नहीं प्राप्त करती !

किंतु नारी को देखकर यही एक भाव उत्पन्न नहीं होता। केसरी की कवि के प्रति जो उक्ति है वह नारी की पुरातन प्रमादवृत्ति को पहचानने का प्रयत्न करती है। वह नारी तप में लीन है। अपने को माध्यम बना चुकी है। उसमें एक वेदना है जिसे कवि नहीं समझता। वह उस साकारता नहीं उससे मनुहार करके पूछता है

किस विरह की पीर से रहती भरी
बोल कुछ तो बोल प्यारी बाँसुरी।
बेधती हिय तीर-सी तेरी व्यथा
कौन-सी यह कसक कसी दुख-कथा।
बज रही किसकी करुण स्वर रागिनी
कौन सा धन खो गया प्रिय-वादिनी।
ओ सुहागिन विश्व-अधरों की प्रिया
सींचती मधुधार से जग का हिया।

माधुरी यह धन्य जग जिसका बनी
एक तू ही विश्व में सखि ! उर्वशी।
फिर बता किस शोक से तू बावरी
बोल कुछ तो बोल प्यारी बाँसुरी।

—इमरा

जिस प्रकार राधा अभा तक कवि-मानस की प्रम की माधुरी का सृजन करती है, कृष्ण की भुवनमोहिनी मुरलिका भा अपन स्निग्ध सगीत की साधना स तन्मयता का सृजन करती है। इसी प्रकार उर्वशी जिसक अपरूप लावण्य म रवीन्द्रनाथ ने समुद्रों को वन्दत देखा था कवि-मानस म रूप का सृजन करती है। महान की ये तीनों विविधावस्थाएं परम्परा स प्राप्त रूप की श्री को समन्वित करन नये युग के कवि म भी आराधना का स्वर जगाती हैं। इसीलिए कवि को नारी का पर्याय जब इनम मिलता है तब वह आनन्द का अन्वेषण करता है। और उसके विपरीत उस वदना मिलन पर उसे समझ नहीं पाता। मानो नारी की सत्ता मूलत वेदना ही है। उसमे परुप अपनी फूक भर करके करुण रागिनी निकालता है जो नीरवता क दिगतो म कल निनाद प्रवाहित कर देती है। किन्तु उसके अपन मन को वह छू भी नहीं पाता।

वह चाहता है कि नारी उसके स्नेह का उत्तर अत्यन्त मुखरता स द। चट्टान म भी सोता है यह नारी क्यों नहीं रख पाती ? उसके बन्धन एस क्यो हैं ? वह प्रकृति से नारी का तादात्म्य अधिक चाहता है वह उसे अपनी रसरंगिणी क रूप म देखन को आकुल है

मुस्कानों की लड़ी नयन के डोर म तुमने गूथी है
यदि इन गीतों को भी गूंथो तो मैं जी भर तुम्हें सराहूं !
गूथो गीत अगाध सिंधु के मैं प्रमुदित होकर अवगाहूं।
इन्द्रधनुष के गीत रंगीले पावस के रिमझिम के गायन
उडते छिपते गीत जुगनुओं के गूंथो कुछ और न चाहूं।

—हरिश्चन्द्र वर्मा चातक

किन्तु वास्तविकता न जुगनुओं स खलता है न सिंधु क प्रमुदित गीतों को अवगाहन करन का निमंत्रण देती है। न सही किन्तु कवि तो उदास नहीं है। वह तो बस लिप्त नहीं है। उसकी अपनी वेदना ही उसे कब छोड़ता है जो वह अतिरिक्त कुछ कर सक।

छलछल करके छलक उठी नयनों की गागर
दीप आरती का वे लेकर कम्पित कर म
डगमग करते इन पाँवों से पूजाघर में
श्रद्धा के दो फूल चढ़ाने जब पहुँचा था

नीरव रात्रि के तम क्षण में यह सोचा था
कण-कण आँसू की बूंदों से भर दे सागर !

—नरेन्द्र शर्मा

वह तो श्रद्धा के फूल चढ़ाना चाहता है। किन्तु वेदना से गलदश्रुकण्ठ है वह। आँसू की बूँदों से सागर तक भरना चाहता है। यह सब वासना है, वासना जो पवित्र है, पवित्र है परन्तु आबद्ध है, बंधनों में ग्रस्त है किन्तु स्वतन्त्रता का संग्राम छिड़ गया है और कवि इसीलिए नये-नये आवाहन दे रहा है कि नारी ! आओ निकलकर आओ ! तुम जिन बंधनों में बंधी हुई हो वे तुम्हारे रास्ते को रोक नहीं सकेंगे।

गिरिजाकुमार माथुर सजीली सुषमा का कवि, जो कभी-कभी बहुत मीठी कल्पना करता है, प्रिया के प्रति बहुत अनुरक्त रहता है। उसकी प्रिया कविप्रिया है, सहज प्रिया तो है वह, परन्तु साधारण नारी नहीं।

गिरिजाकुमार के शब्दों में संगीतात्मकता अधिक मिल जाती है। कभी-कभी केवल शब्दों का सौंदर्य ही भावों के अभाव को भी ढँक देता है। वह अपनी प्रिया के रूप-वर्णन को कभी अपने भावपक्ष से अलग करके नहीं देखता। निस्सन्देह उसकी नारी एक कुलीन युवती है और बहुत ही कोमल कान्ता भी है।

'लोरी' में उसने सुनहली नींद का चित्रण किया है। जिसमें बड़ी सुकुमारता है। लोरी की दुहरती आवाज जैसे उसके पद विन्यास में से धीरे धीरे गूंजती है

रतनार रंगभरी सुर्खनिंदिया आई
चाँदनी की पलकें हैं भारी
बोझिल वायु थकी उजियारी
दीप में नींद समाई।
बीच में खो गई बात की डोरी
नींद बुलाने में सो गई लोरी
प्यार ने आँख झुकाई।
गालों पे सो गए ठंडे से चुंबन
कोरों में सो रहा आँख का अंजन
मुख पर सोई ललाई।

—गिरिजाकुमार माथुर

कोरों में आँख का अंजन और गालों पर ठंडे-से चुंबन सो गए हैं। मिलन की छवि है, तृप्ति की। इसमें आतुरता का प्रश्न ही कहाँ ? किन्तु यह तृप्ति हम बहुत कम मिलती है। हम तो प्रायः असंताप के युग में हैं और हमारी अतृप्ति ही कभी-कभी हमारी कोमलताओं में उभार लाती है

नित धुलायेंगी किसीको इंगितों से तरु लताए
शून्य में घिर घिर भरेंगी धूल की धूमिल घटाए
दिवस भर बजते रहेंगे रश्मियों के तप्त नूपुर
पर किधर उस मौन ऊषा का चरण होगा न जाने !
और क्षण कुछ शेष हैं फिर कब मिलन होगा न जाने !

—भगवतप्रसाद चतुर्वेदी

रश्मियों के तप्त नूपुरों को बजानेवाला कवि अपनी कल्पना में ऊषा को भी प्रिया में सन्निहित करके देख लेना चाहता है। काल-व्यवधान में यह परागानुभूति अपनी एक विशेषता रखती है कि हम प्रकृति को अलगाव नहीं देते उसे भीतर नियोजित करके देखते हैं। कैसी है वह तपोवनवासिनी शकुन्तला जिसे तरु-लताए इंगित करके बुलाएगी ?

बच्चन में इतनी अधीरता है कि वह तो सीधी बात कहता है कि मेरा स्वत्व मुझे दो। वह अपहरण की प्रवृत्ति में तो नहीं गया किंतु निश्चय ही वह उसकी स्वीकृति चाह रहा है जिसे 'आज' का अधिकार देने में भी इतना सोचना पड़ रहा है।

प्राण, कह दो आज तुम मेरे लिये हो।
मैं जगत के ताप से डरता नहीं अब
मैं समय के शाप से डरता नहीं अब
आज कुन्तल छाँह मुझपर तुम किए हो।
रात मेरी रात का शृङ्गार मेरा,
आज आधे विश्व से अभिसार मेरा,
तुम मुझे अधिकार अधरों पर दिए हो।

—बच्चन

इसे क्या परकीया प्रेम कहना उचित होगा? मेरी राय में ऐसा नहीं है। क्योंकि अधिकार आगे मिलते रहने की आशा नहीं है कवि 'आज' कहकर अपनी बहुत दिनों की अवरुद्ध वासना को इस क्षण में ही लीन कर लेता है। और इस प्रकार अपने अनुरोध में बल पैदा करता है। नारी कितनी बड़ा गर्वित है कि उसके बालों की छाया में पुरुष न जग के ताप से डरता है न समय के शाप से। आज इस मिलन में मानो आधे संसार से वह मिल रहा है। क्योंकि बाकी आधा तो वह स्वयं है। पुरुष की अभिव्यक्ति स्पष्ट है। उसे अब अप्रस्तुत विधान की आवश्यकता नहीं अधरों का अधिकार पाकर भी वह धारणा न करे, ऐसा निर्बल तो सचमुच वह नहीं ही है

प्यार के पथ में जलन भी तो मधुर है
प्यार के पथ की थकन भी तो मधुर है।
आग ने मानी न बाधा शैल वन की
गल रही भुजपाश में दीवार तन की

प्यार के दर पर दहन भी तो मधुर है।
प्यार के शर का मरण भी तो मधुर है।
तृप्ति क्या होगी अधर के रसकणों से
खींचती तुम प्राण ही इन चुम्बनों से
प्यार के क्षण में मरण भी तो मधुर है।

—बच्चन

प्यार का क्षण मिला है। इस क्षण से बढ़कर कुछ भी उसके सामने नहीं है। इस क्षण की महत्ता का हम अन्यत्र भी देखते हैं। शायद वह क्षण होता ही ऐसा होगा क्योंकि सब ही कहते हैं

पलकें नीचे गिरीं, थाल में कहाँ दिठाई
तब तक आ पायी थी, रोम रोम ही मानो
आँख बन गया, सिहरन से लहराया, दोनों
से किसके यह रूप भरा था, और मिठाई
पग में पाल उठी थी, मेरी और तुम्हारी
दो दुनियाँ हो गई एक यों, कोयल बोली
और पपीहा बोला, फूलों यों ही होली
प्राणों की छवि अपने आप उतारी।
हमने अपनी अपनी आँखों में यह ऐसे
हुआ कि जान न पड़ा मगर जब आगे आया
तब मालूम हुआ कि आज ही सब कुछ पाया
एक निमिष में, निमिष बन गया सतयुग जैसे
चुपके-चुपके प्राणों की यह अदला-बदली
भीतर-बाहर छायी इन्द्रधनुष की बदली।

—त्रिलोचन शास्त्री

यह तो मोरी वर्ष की बात है जबकि आँखों की विदाई भी प्रारंभ नहीं हुई। तभी तो रामविलास शर्मा ने कहा है

प्रेम का प्रथम अपरिचित स्वाद
कहीं जिसमें न गरल का लेप
और जो नहीं छोड़ता बाद
कालिमा का भी तन पर शेष
पुण्य अरुणिमा यह दूर उतार
रूप को देगा और निखार।

कौदस कहा करता था कि सावन सूखे ठूंठ को अपनी हरियाली याद नहीं आती लेकिन वसन्त पुरुष के बारे में थोड़े ही कहा था! रामविलास शर्मा ने कहा है

पीड़ा को उसकी प्रकृति मूल
दुख को भी सुख-सा मधुर मान
मैं हृदय लगाता बार-बार
तेरा कोई उपहार जान।

इस कवि का प्यार तो तब प्रारम्भ हुआ था जब जग के प्राण उदर में छिपा कर आकाश सो रहा था और भावी सृष्टि का चरम विकास असीम लयमान था।

भारतीय पौरुष एक ओर प्रमी है दूसरी ओर बड़ा वेदांती भी है।

यद्यपि आसक्ति और अनासक्ति का यह द्वन्द्व वस्तुतः भारतीय चिंतन में बहुत प्राचीन है किन्तु यहां हम एक ही साथ दोनों स्वर चलते कम ही दिखाई देते हैं। इडा पिंगला की गतियों का बद होकर सुषुम्ना नाड़ी में समा जाना तो नये युग में ही अधिक मिलता है। मनुष्य अब अपने को जितना अकेला पाता है उतना शायद पहले नहीं

इसीलिए खड़ा रहा कि तम मुझे पुकार लो!
जमीन है न बोलती न आसमान बोलता
जहान देखकर मुझे नहीं जबान खोलता
नहा जगह कहीं जहाँ न अजनबी गिना गया
कहाँ कहाँ न फिर चुका दिमाग दिल टटोलता
कहाँ मनुष्य है कि जो उमीद छोड़ कर जिया
इसीलिये खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो।
कहाँ मनुष्य है जिसे कमी खली न प्यार की
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे दुलार लो!

—बच्चन

प्रतीक्षा अकारण नहीं है सीधी सादी बात है कि मनुष्य को प्यार की कमी खलने लगी है। क्यों? क्योंकि उसके सारे मानदण्ड हिल गए हैं। नया कुटुम्ब अन्य कर्तव्यों और मर्यादाओं को तो छोड़ चुका है दाम्पत्य जीवन के सहवास की तीव्रता मध्यवर्गीय यूरोपीय संस्कृति ने अब बहुत अधिक ला दी है। तभी वह कहता है

क्यों पिलाते हो बार बार मुझे
गिर गया तो सभाल भी लोगे?
क्यों डुबाते हो बार बार मुझे
बह गया तो निकाल भी लोगे?
क्यों सुलाते हो बार बार मुझे
सो गया तो पुकार भी लोगे?

—मनमोहन

सचमुच जितनी तेजी से युग बदल रहा है कवि उससे अपना सामंजस्य नहीं

विठा पाता। उसके सामाजिक और पारिवारिक आकर्षणों का नाश जिस नई मार बीचे लिए जा रहा है वहां अभी उसकी छत को सभाल लेने वाले स्तम्भों ने सिर नहीं उठाया है। तभी वह कहता है कि मुझे उबार लेने की शक्ति भी तुमम है या नहीं ?

नारी पर इतना अधिक उत्तरदायित्व आ पड़ा है कि नारी की स्तुति करना आवश्यक-सा जान पड़ने लगा है।

नारी जा अपने इन्द्रजाल का सम्मोहन फैलाए हुए है क्या वह जानती है कि उसका असर क्या है? पुरुष की विह्वलता शताब्दियों से उसके हाथ अपने को भुला देने वाली मदिरा पीती चली आ रही है। लेकिन ऐसा क्या ? नारी को भी वही प्रतिकार क्यों न मिले ? वह चेतना को छीनती है तो छीने ! परन्तु क्या पुरुष से उसका इतना ही संबंध है ? वह तो चुप ही रहती है ! क्यों रहती है वह ऐसी ? वह क्यों नहीं बोलती

आज साक़ी को पिला दी जायगी,
बस यही उसको सजा दी जायगी।
मौन साक़ी को बनाना है मुखर,
वेदना उसकी हिला दी जायगी।
क्या कहा साक़ी ! कि मैं बेहोश हूं
होश की तुमको दवा दी जायगी।
आग अंतर म दबी जो प्यार की,
आज फिर उसको हवा दी जायगी।
तुम पियो बातें करो खोलो हृदय,
नेह की सरिता बहा दी जायगी।

—बैराज 'दिनेश'

उसकी वेदना को हिलाना होगा। उसे स्वय अपने इन्द्रजाल को पीना पड़ेगा। ताकि उसका मौन टूटे वह मुखर हो जाए। अब तक जो आग अतर म दबी हुई थी उसे हवा कर-करके बढ़ाया जाएगा। अब वे दिन गए जब [illegible] कहकर ही सतोष हो जाता है। अब तो

बजो चरण ध्वनि तेरी।
मेरी रागिनि उमड़ पड़ी है मीड़ मूर्च्छना मेरी
चिर उत्सुक मन प्यास मिटाता,
पागल बन मधु प्रलय जगाता,
ध्वनि ध्वनि से टकरा जाती है माया ने हग फेरी,
मम निर्झर नयन द्वार से प्रगटी आशा मेरी।

—भवानीशंकर नारायण

आंसू जब इतना तत्पर है तो फिर पुरुष और नारी में इतना भेद ही कहां है !

यह तो समानाधिकार का युग है। जीवन यदि नशा है तो नशा ही सही। किंतु उसकी ग्रम में एक आनंद तो हो विभोरतन विह्वलता तो हो। यह क्या कि आनंद का उद्गम ना एकांगी ही बना रह जाए और अपना पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सके।

किंतु पराधीन कवि की विवशता अव्यभाव रहती है। वह यौवन के रस को पान हुए डरता है

मत पिलाओ मत पिलाओ !
आह से सींची हुई यह
साँस से सींची हुई यह
मधुर मधु की प्यालियाँ मैं पी चुका हूँ
तुम हलाहल मत पिलाओ, मत पिलाओ !
क्या कहा यह भी पियो तुम !
और फिर पीकर जियो तुम !
पर यहाँ सचमुच गवाये अमर रस को पी चुका हूँ
तुम हलाहल मत पिलाओ मत पिलाओ ![1]

पवत ना कभी-कभी पीने की नमी से डर सकता है इसे कौन समझ सकता है। वह तो समझता है क्योंकि असल में वह प्यासा वह रहा नहीं है वह तो अमर रस को पी चुका है। हलाहल से डरता है तो यह उसका विवेक ही कहा जाएगा। किंतु जिसकी प्यास हो अभी अतृप्त रह गई हो वह क्या करे? नहीं पीता तो या- अलान सकती है। सो वह पीना अपने को भूल जाने के लिए है, एक प्रकार से दबाव डालना है

तुम बुझाओ प्यास मेरी
या जलाए फिर तुम्हारी याद।
कम अधर कम कंठ में पर प्राण में जो नियंत्रित आग
एक है मालूम तुमको जो रही है वह सदा से माँग
होंठ भीगे हों हृदय हो नित मरु की नाक सुनो आह
क्या बनूँगा आज अपना ही स्वयं दयनीय मैं अपवाद।

—बच्चन

यह तो प्राणों की आग है और इसपर किसी प्रकार का नियंत्रण भी नहीं है। कवि पूछता है कि क्या आज मैं स्वयं अपना ही दयनीय अपवाद बन जाऊँगा? कितनी अस्थिर भविष्य की बात है। ऐसे में यही तो हो सकता है कि सदा की आग बनी रहे।

किंतु यह तो तब की बात हुई जब प्रेम अपने प्रारंभिक संयोग-पक्ष के आगे बढ चुका है। नारी का शारीरिक रूप हमें संयोग-पक्ष में अधिक सुंदर बनकर परिलक्षित होता है।

---

[1] हलाहल और—दीन

वे चित्र जो स्मरणपरक नहीं, परन्तु किसी याद के विशेष चित्र को प्रस्तुत करते हैं, सर्वथ सजीव-से लगते हैं। उनमें जो विशेषता होती है वह उनके भीतर व्याप्त होनेवाली मस्ती में से प्रकट होती है चाहे फिर उसमें कितनी भी तड़पन क्यों न निहित रहती हो

रूप की पूनम बसी थी
आँख के आकाश में
मैं बँधा था वो गुलाबी
बाहुओं के पाश में
इन्दु को लखकर उठा जो
ज्वार उर के सिंधु में
हाय ! सारी रात लहराया
सबेरे ढल गया !
चाँद सारी रात मुस्काया
सबेरे ढल गया !
स्वप्न सहमा तोड़ डाला
भैरवी की तान ने
लो बिदा मुख से तुम्हारी
रेशमी मुस्कान ने,
ओस का मोती कली के
मखमली-से गाल पर
जो कि सारी रात इठलाया,
सबेरे ढल गया।

—रामकुमार चतुर्वेदी

चांद यहां प्रेम, वासना सौंदर्य और तन्मयता का भी प्रतिनिधित्व करता है। भैरवी की तान भी इस क्षण अच्छी नहीं लगती क्योंकि वह अनंत हो गई रात्रि का अंत कर देती है। श्रीकृष्ण को जो छः महीने की पूर्णिमा का रहस्य था वह अब समझ में आया। उसमें भी तो अखण्ड रास हुआ था। गोपियां अपने को भूल गई थीं। मुरली बजती रही थी। फिर गुलाबी बाहुओं का पाश क्या कम आकर्षक है जो कवि उसका उल्लेख न करे ! मुस्कान जहां रेशमी है वहां की स्निग्धता का क्या कम ! रीति काल के कवियों ने कब रेशमी मुस्कान देखी थी। कुछ नए प्रयोग अवश्य ही अंगरेजी साहित्य से आए हैं रूसी साहित्य से नहीं। वहां मुस्कानों में इतनी मिश्री अब नहीं घोली जाती। पुरुष की वासना यदि अपने दृष्टिकोण को आगे की ओर बढ़ने की ओर संकेत करती है तो उसमें हानि भी क्या है ? हानि तो है क्योंकि उसमें कहीं-कहीं एकाकीपन का घुन लगा रहता है

गीत पथ के गा रहा हूँ!
देखकर चलता सम्हलता
कटकों म कब उलभता
मंजिलों पर मजिलें मैं
पार करता या रहा हूँ!
गीत पथ के गा रहा हूँ!
आज मन म वह लगन है,
सिंधु भी जिसमें मगन है
पत्थरों को मैं कुचल
कटक दलन कर आ रहा हूँ,
गीत पथ के गा रहा हूँ।
आज पहुँचा द्वार तेरे
शांति दिल मे पर न मेरे
मैं स्वय को आस का
उपहास बनता जा रहा हूँ
गीत पथ के गा रहा हूँ।[1]

यह धुन उस भीतर ही भीतर कचोटता है। दुखी तो वह ससार म प्राप्त अनेक विफलताओं के कारण है वन सबकी सुलभन ढढता है वह थका-हारा आकर अपनी प्रयसी के द्वार पर! सीधी बात है कि या काम नहीं चलता। वह चाहे इसस कितना ही असतुष्ट क्यो न हो न! तभी वह उलाहना दता है

तम्हारे मौन का मैं अथ क्या समझूँ?
कि तुम पाषाण से भी बढ़ गये दो चार डग आगे।
भला पाषाण है तुमस कि जो इसान के आड़े समय पर काम आ जाये
जो रस से लाज पूजा की स्वय भगवान बन जाये—

—राही

किंतु पुरुष इस एकात उपालभ म यह भी सोचता है कि नारी प्रतिमानवी नहीं है। क्या है जिसन उसे पाषाण स भी दो चार डग आगे का मौन स्वीकार करने को बाध्य कर दिया है! पत्थर अपने-आप भगवान कब बना है? उस तो भगवान बनाया गया है और उसन इसे भी चुपचाप स्वीकार कर लिया है!

प्रेमियो न अपनी कामार्त्तावस्था म चेतन और अचेतन में कृपण प्रकृति को सत्व प्रदर्शित किया है। इस युग म भी यह मेघ को आर देखकर अंतस् म वाष्प भर कर लबी सांस भरता है और कहता है कि हे मेघ! तू तो पुरुष की वन्ना समभने वाला पुरातन साथी है

---

१ इकबाल कौर—पीड़ा

सौंपकर निश्वास तेरे हाथ में
और अपनी कल्पना कर साथ में,
भर दिया तुमको पराए क्लेश से
विरह-व्याकुल यक्ष के सन्देश से—
कवि श्रेष्ठ ने भीतर हृदय के पठ!
दिन एक उज्जयिनी पुरी में बठ!
इसीलिए मैं तुमसे अब अपनी गाथा सुनाने म तल्लीन हू
और उस दिन से अभी तक मेघ,
ले अपरिचित के लिये संवेदना
पथित तेरी खिन्नचित, आकुलमना
रामगिरि की चोटियों पर घूमती
यक्षिणी के पास बसती घूमती—
कर रही है शोक का अभिषेक,
ठीक उस दिन से अभी तक मेघ

अपरिचित के प्रति संवेदना को कालिदास न तो मेघ को बधु बनाकर महत्व नही दिया था किंतु नया कवि उसे अपने इतने निकट नही ले आ पाता

और तब से यक्ष के है मीत,
जो अपेक्षाकृत दुखी जितना रहा,
खोलकर तुमने हृदय उतना कहा,
आज मैं भी यक्ष-सा परितप्त हूँ,
वेदना पाले हुए अभिशप्त हूँ
आज मैं समझा तुम्हारा गीत
यक्ष के हे पूर्व परिचित मीत!

—भवानीप्रसाद मिश्र

इस मेघदूत से नया कवि केवल प्रम को ही भीख नहीं मांग रहा है कि मेरा सदेश ले जाओ वह तो अपेक्षाकृत जो जितना दुखी है उसके प्रति मेघ की उतनी ही अपेक्षा' चाह रहा है। आज वह भी यक्ष-सा ही तो परितप्त है वदना उसने भी पाल रखी है अभिशप्त वह भी है, और आज ही वास्तव म उसकी समझ म आया है कि वेदना प्रेम की टीस से ही जन्म लती है। यह तो छायावादी युग न ही प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि वेदना ही काव्य का मूल है।

प्रेमी हृदय ने प्रेम की क्रियाओं के ऐसे नये-नये चित्र उपस्थित किए हैं कि व क्षण भर रोक लेते हैं

अपनी सर्वांगी मृदुमधुर गीली अंगुलियों से
मत मेरे जीवन की अजर रसो बांटो।

जाने कितनी गाँठों से बँध-बँध एक हुई
दुनिया के क्रूर करों में पड़ बेमेल हुई
प्रिय हँसी हँसो म जोड़ रही हो जो नाता
क्षणभुर है पर यह सत्य भुलाने भूल रहीं
टुकड़-टुकड़े कर डाले जिसके छलना ने
मत पानी भरी निगाहों से उसको बांधो
मत मेरे जीवन की जर्जर रस्सी बांटो।
मत सीमित आंसू से तन की मिट्टी रौंदो
क्यों घूम तमस बन आसपास मडराती हो,
बुझ गया प्यार की पहली बदली सध्या म
अस श्रोर-छोर पर हृदय-दीप सजा पाती हो
मत मेरे जीवन की जर्जर रस्सी बांटो।

—शिवनारायण मिश्र दुर्गेश

यहाँ उगलियां जीवन की जर्जर रस्सी बटती हैं और जीवन की रस्सी है कि गांठों से भरी पड़ी है। लाग विरोधी हैं। ससार बड़ा क्रूर है। इस विपन्नता म यह प्रम का पनीला बधन और भी गया है। तन की मिट्टी को सीमित आसू के जल से रौंदकर नई प्रतिमा को गढ़ने का यत्न ही निष्फल है। वह काम तो विधाता का था। किन्तु प्रम क्या सस्त छूटता है! मनुष्य की निर्ममता भी क्या उसके प्रम का आधार नहीं बन जाती?

मेरी क्या वेदना यहाँ है अंगारों पर चलने वाले
मरे नामा पर परवाने वे हैं अलमस्त मचलन वाले
घुपके घाव लिये एकाकी यहाँ बिलखने वाले भी हैं
प्राण प्रियों की चिता जलाकर जीवन रखन वाले भी हैं
फिर क्या अपना भाग यहाँ होगा मुझको स्वीकार
आत्मा की सगिनी! प्राण-मन सह लेंगे दुख भार!

—श्याम नारायण त्रिपाठी

एक सीमा तक सोच रहती है उसके समाप्त हो जाने पर मन सबको भूलने की चेष्टा करता है और अपने पुराने जीवन की स्मृति म ही लगा रह जाता है। आत्मा की सगिनी को यह कवि बताता है कि जीवन बड़ा दुधर्ष है कितनी भी विपत्ति क्यों न आ जाए, मनुष्य को तो सहना ही पड़ता है। वह अपने प्रिय से प्रिय की चिता स्वय जलाता है और फिर भी जीवन को ढोता है। ढोता है क्योंकि ढोना पड़ता है।

इस लबे भारवहन म कहीं तो सांत्वना होनी ही चाहिए। सांत्वना कैसे हो सकती है जब सब कुछ नश्वर है बदल रहा है! क्या वह केवल मन बहलाव ही नहीं है? भारतीय चिंतन में जो नश्वरता का भय है आनन्द है वह जितना अधिक रमा

हुआ है कि हम हुसते हुसते एक अनागत की याद में ही गंभीर हो जाते हैं

सुधियों ने पाया तुम-सा आवास
स्मृतिविहग निस्पन्द न होने पाया
प्राणों ने भावों को दी अक्षय काया
उड़ सके न नभ में यों विचार यायावर
गा सकी तभी भावुकता तम गीत स्वर
असमन ने कुछ क्षण को किया प्रवास।
स्पर्ण-सा स्वच्छ परावर्तक अन्तर्मन
प्रतिपल नाना सुधि बिंबों का अभिनन्दन
उन मधुर क्षणों की बसी छाँह गीतों पर
क्षण भर जीवन को तुम कह सकते नश्वर
पर गीतों में शाश्वत करे निवास।
उड़ते-उड़ते ही होता साँझ सवेरा
आभारी हूँ, सुमन दे दिया बसेरा
क्षण या जीवन भर, मुझको बहुत न अन्तर
हाँ वासित क्षण भर से युग मन्वन्तर
सुधियों को शाश्वत क्षण का सहवास
सुधियों ने पाया तुम सा आवास।

—विपिनचंद्र चतुर्वेदी

फिर भी यात्रा यात्रा ही नहीं है। जो असीमा है उसमें पुरुष अपने लिए दायरे खींचता ही है, क्योंकि उसके दो रूप हैं। वह समाज का व्यक्ति तो है परंतु एक क्षण व्यक्ति भी है। उसका व्यक्ति अपने लिए अलग सुख भी चाहता है। उस सुख की मर्यादा क्या है? वह है उसके देह की आवश्यकता। मांस और रक्त की स्पंदित गतिशीलता उसकी इकाई का आभास कराती है उसे अपनी सत्ता की रोचकता का आभास कराती है। और अपनी कुछ दिन की सत्ता को वह पूर्णतया अनुभव कर लेना चाहता है तभी कहता है कि क्षण या जीवन भर का मुझको बहुत अंतर नहीं मालूम देता क्योंकि क्षण भर से ही तो युग और मन्वन्तर वासित होते हैं। जीवन क्षणभंगुर हो सकता है किंतु क्या उसका गीत भी ऐसा ही क्षणिक हो सकता है? गीत तो भावना का प्रतीक है और प्रतीक की अपनीयता क्या शाश्वत बनकर नहीं रह सकती? परावर्तक अंतर्मन दर्पण का सा स्वच्छ है, उसमें नाना प्रकार की सुधियों का बिंब अभिनंदन किया करता है। क्योंकि जीवन के सार्थक क्षण ही गीतों में उभरकर आते हैं इसलिए उन क्षणों का मूल्य मनुष्य के लिए स्थायी महत्त्व रखता है। कवि ने अनजाने ही काम्य के मूलाधारों के प्रश्न को छुआ है और वह उसे सुलझाने में सफल भी हुआ है। यह जीवन क्यों मिला है आखिर? —यह समस्या भला कोई सुलझा सका है! कवि कहता है

अरे गीत गाओ
गगन से धरा तक बहो ज्योति-गंगा
नहाओ नहाओ !
अर प्यार के हेतु जीवन मिला है
अकिंचन मनुज को हृदय-धन मिला है,
सदा प्रम बाँटो सदा रस उलीचो
नयन-वारि स प्रम का माग सींचो
अरे प्रम-गंगा जगत मे बहाओ,
स्वय प्रीति पाओ !

—नमदाप्रसाद खरे

यह है जीवन का नया सत्य। प्रम क लिए है यह जीवन ! यह तो खर ठीक ही है। भरत मुनि क अनुयायी 'रति' कहत हैं चडीदास 'प्रम' कहते थे सो नया कवि तो प्रम और रति को एक मानता है और कहता है

प्राण बने आज एक गान तुम्हें छलने का।
छविमयी छाया में भरमाया मैंने तुम्हें
स्वप्न एक सत्य बनाया मैंने तुम्हें
गान एक गाया मैंने आज तुम्हें छलन को।
X
मौनवसना श्वेत मत्यु आह्वान मे
एक ध्यान में बधे प्रम निर्वाण में
प्राण बने आज एक गान तम्हें छलन को।

—रामशेर बहादुर सिंह

मृत्यु श्वेत है मौन ही उसका वसन है उसे आह्वान किया गया है और प्राण एक ध्यान म बध गए हैं क्योंकि प्रम के निर्वाण में उनकी निरति हो रही है। इसी लिए प्राण एक गान बन गए हैं क्योंकि प्राण का सायक क्षण भावातिरेक का उल्लास भरा गीत है। प्रिया की नश्वरता का अलग करन क लिए उस गीत स उस रिझाया जा रहा है ताकि उसम से नश्वरता का आतक दूर हो सके। यह छलना तो प्यार भरी है। इसम कोइ कलुषित छाया नहीं है। इसीको कवि जब अपने रूप-वणन म बधना चाहता है तो उस नारी का रूप सारी सष्टि में बिखरा हुआ दिखाई देता है

मृदु केश म आषाढ़ की पहली घटाओं से सघन
मधु दृष्टि की आभा अधाते पर कपाते हैं तपन !
यह मुख कि जस चाँद-सूरज की छटा का सार ले
विधि ने बनाया है निखिल मधुमास का शृ गार ले !

यह देह जैसे, ओस मधु फूलों भरी चंचल लता
यह गति कि जैसे मद सौरभ से भरा पवमान हो !
कस कहूं अनजान हो !
ये दो नयन जैसे कि सारी सृष्टि का जादू लिये
हों दो कमल की पंखुरियों में जल रहे छवि के दिये !
यौवन कि जैसे वह भर आई शरद की चांदनी
लज्जा कि जैसे मेघ में लिपटी हुई सौदामिनी
मस्ती कि ज्यों हरिताभ वन में दूधिया झरना बहे
वाणी कि बौरे झुरमुटों मे कोकिला की तान हो !
कस कहूं अनजान हो !

—रामकुमार चतुर्वेदी

उद्दीपन साथ है रूप की सुलगन बढ़ती है और कवि उस रूप-माधुरी को अनजान नहीं मानता। अवश्य ही रूप का अपने सौन्दर्य का आभास रहता है क्योंकि जो स्वयं आकर्षण का केन्द्र है वह क्या अपनी शक्ति से अनजान रह सकेगा ! प्रेम क्या मन की अनुभूति के अतिरिक्त कुछ और है ? नहीं वह तो तन्मयता है एकरसता है। जो कुछ बदल रहा है उसका आतंक इसीलिए है कि तन्मयता का अभाव है। कवि कहता है

मैं और किसी पर क्यों रीझूं
करता हूं प्यार तुम्हें केवल
क्या मेरा ध्यान बटा सकती
इस नश्वर दुनिया की हलचल?
मत टूटें मेरे स्वप्न कभी
निष्ठुर पतझड़ की मारों से
निज पथ से विचलित हुआ नहीं
तिल भर लू की फटकारों से।
जब बांध पंखुरियों में लेती
नलिनी मधु का सांवला चोर
तब शरद चांदनी मे बैठा
मैं आमू पर सुधि से विभोर
तुम हो उदार भर उपालंभ
मैं दास तुम्हारा हूं निश्छल।

—विनयकुमार

यह तन्मयता नारी रूप से प्रारंभ होकर देवत्व को ग्रहण करने चेष्टा करती है। मन में दास्य भाव जन्म लेता है। क्यों ? क्योंकि जब लघुता दयनीयता की ओर प्रेरणा

दती है तब असहायावस्था स्वत्व पूजा की ओर अग्रसर करती है। अब नारी का रूप निखिल चेतना म परिवर्तित हो गया है और 'तू' की फटकार विचलित करन म असमर्थ हो गई है एकता का अवगाहन अपन-आपम गहिर-गभीर है। विनयकुमार म मांसलता नहीं है, परतु रीझ है। उसकी रीझ प्रकृति के बडे सुनें-छिपे चित्र भी उपस्थित करती है।

नारी भी पुरुष भाव म कभी-कभी अपनी अनुभूति करती है। एसा जब होता है तब पुरुष उस सजीला-सा दिखाई देता है और वह स्वय अपने हृदय को न्यौछावर करती हुई बढ़ती है। किसी सीमा तक स्त्री का पुरुष सबोधन करना, फारसी-पद्धति का प्रभाव भी है सामाजिक विकास म स्वतत्र कथन पर बधनो के कारण जन्म लेता है। यह बडी अजीब कसकन है। स्त्री के लिए तो पुरुष बनना तनिक कठिन ही होता है। क्योकि वह अपने दर्द की आहा को बडी तीव्रता से अनुभव करती है। उसके आसू बहुत धोखा द जाते हैं

तुम किसी से यह बात मत कहना
कोई तुम्हारी याह में जल रहा है!
नयन में तुम्हारे सपने सजाकर
अश्रु मे किसी के प्राण गल रहे हैं
बूंद बूंद पर चिर प्यास को कहनी
लेकर किसी के सांस चल रहे हैं!
तुम किसी से यह बात मत कहना
कोई तुम्हारी चाह म गल रहा है!
प्राण मे तुम्हारी सुधियाँ बसा कर
आज तक किसी के गीत रो रहे हैं
गीत के गील स्वरों पर किसी की
पीड़ा मचलती स्वप्न सो रहे हैं!
तुम किसी से यह बात मत कहना
कोई तुम्हारी चाह में छल रहा है!
तुम्हारे निठुर प्यार की साधना मे
किसी के हृदय को करुणा मचलती
पग तो थके बार बार पथ में पर
किसी की विकल चाहना नित्य चलती,
तुम किसी से यह बात मत कहना
कोई तुम्हारी राह में चल रहा है।

—कुसुमकुमारी सिन्हा

याद में रमना तो इस कवयित्री न भी नहीं सीखा। वासना बराबर जारी है।

प्यार है निष्ठुर ! की तो उसकी साधना ! क्या न करुणा मचले उसपर ! बार-बार ऐसे पथ में पांव तो थके किंतु विकल चाहना ने मत रुकने दिया ?

इस स्नेह का कोई अंत नहीं है। क्या हम इस यों समझें कि इतने सामाजिक बंधनों के कारण ही यह बात पैदा होती है ? नहीं ऐसा नहीं है। यौवन की भी तो अपनी बात है, अपना महत्त्व है। उसके आगमन में जिन्होंने वसन्त देखा वे क्या फिर चुप रहेंगे ! आखिर इन कविताओं के लिखनेवाले ऐसे कौन-से संपन्न लोग हैं ? प्रायः मध्यवर्ग के हैं ये लोग और वे भी विचार निम्नमध्यवर्गीय ! जीवन में उनके बड़ी कठिनाइयाँ है। परन्तु धरती पर पांव रखनेवाले अब आकाश तक सिर उठाने की क्षमता रखते है तब क्यों न उसे अपनी प्रेरणा का उन्नति देनेवाला समझा जाए ! उपयोगितावादी कहते हैं कि इस विरह-वेदना से समाज को लाभ ही क्या है ? वे यह क्यों याद नहीं करते कि विरह भी सामाजिक जीवन में ही जन्म लेता है। वह प्रत्येक के जीवन में आता है न आता तो लोकगीतों तक में वह क्यों उतर जाता ! वह तो बड़ा व्यापक है

आज श्वासों की परिधि को पार करके
स्नेह का सागर बिखरता जा रहा है,
स्वप्ननिधियाँ रौंद अपने चरणतल से
चल रहा जो काल को भुज में समेटे
शून्य शत-शत शाप से निरुपम अजर
विश्व का क्षण-क्षण अमरता जा रहा है।

×

भूल सब कुछ आज अपनी आंख मूंदे
जल रहा हूं क्योंकि जलना ही पड़ेगा
दूर हो मंजिल फफोले पर में हों
पर पथिक को मार्ग चलना ही पड़ेगा
वेदना के दिवस मुरझाये हुए-से
प्राण की सदीप्त ज्वाला बीच तप-तप
कौन मेरे अश्रु से अभिषिक्त होकर
हृदय में पल-पल निखरता जा रहा है ?

—श्रीकृष्ण चैतन्य भट्ट 'राकेश'

श्वासों की परिधि एक जीवन में समाप्त हो जाती है और स्नेह का समुद्र उस परिधि के बाहर भी बिखरता चला जा रहा है। जो अपने ही पांवों से स्वप्न की निधियों को रौंदता हुआ काल को भुजाओं में समेटकर चल रहा है वह सौ-सौ शापों से अजर हो गया है और उस विश्व का एक-एक क्षण अमर रहा है। कुछ भी हो चलना तो पड़ेगा ही। जीवन गति है, उसमें किसी प्रकार भी रुकने का आश्वासन

नहीं है। प्रम की ज्वाला भीतर जलती रहे तो हृदय प्रतिपल निखार प्राप्त करता है हृदय कुंदन है और जितना ही उसे आंसू धोते हैं उतनी ही उज्ज्वलता उभरती आती है।

वियोग अपनी असह्य पीडा लेकर आया है। उसने प्रम के दो योगियों को वियोगी बना दिया है। यह योगी त्यागवान नहीं हैं। यहां योग जोड है। दोनों की अपूर्णता का मिलन है एक नयी पूर्णता प्राप्त करने के लिए। किंतु वे आज बिछुड गए हैं। क्योंकि उनका मिलन समाज को ग्राह्य नहीं है। अत दुख होना स्वाभाविक ही है

आज के बिछुडे न जाने कब मिलेंगे
आज से दो प्रम योगी
अब वियोगी ही रहेंगे।

आयगा मधुमास फिर भी
आयगी श्यामल घटा घिर
आंख भर कर देख लो अब
मैं न आऊंगा कभी फिर
प्राण तन से बिछड़ कर कैसे मिलेंगे ?

आज से हम तुम गिनेंगे
एक ही नभ के सितारे
दूर होंगे पर सदा को
ज्यों नदी के दो किनारे
सिंधु तट पर भी न जो दो मिल सकेंगे!

यदि मुझे उस पार का भी
मिलन का विश्वास होता
सत्य कहता हूँ न मैं
असहाय या निरुपाय होता
किंतु क्या अब स्वप्न में भी मिल सकेंगे!

कब मिलेंगे ? पूछना मैं
विश्व से जब विरह-कातर
कब मिलेंगे ? गूजते प्रतिध्वनि
निनादित व्योम सागर
कब मिलेंगे ? प्रश्न उत्तर कब मिलेंगे ?

छलछलाता आंसू है। वह न शब्दों का जादूगर है न भावों का। परन्तु केले के पात पात में पात-सी उसकी सिहरन में से निकलती सिहरन भुला नहीं देती सपने-सी कचोट मारा करती है। पुरानी पीढ़ी के होकर भी माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' में भी हम दर्शन के सहार में डगमग करती यही वेदना दिखाई देती है। दर्शन तो उसकी प्रभा का अवगाहन नहीं कराता वह तो प्यार के बल पर कोई कर सकता है। भारतीय आत्मा में सरसता कम ही मिलती है परन्तु जहां है वहां वह कोयल के मीठे बोल-सी सुनाई देती है

ये तुम्हारे बोल!
यह तुम्हारा प्यार चुम्बन, यह तुम्हारा स्नेह सिहरन
ये अनमोल मोती से रजत सए!
ये तुम्हारे आंसुओं के बिन्दु, वे सोने सरोवर
बिन्दुओं में प्रेम के भगवान का संगीत भरभर!
बोलते थे तुम अमर रस घोलते थे तुम हठीले
पर हृदयपट तार हो पाये कभी मेरे न ढीले!
ना बजी मैंने सुने तक भी नहीं, प्यारे तुम्हारे बोल
बोल में बढ़कर बजा, मेरे हृदय में सुख क्षणों का ढोल!

आज जब, युव युगल-भुज के हार का मेरे हिये में है नहीं उपहार
आज भावों से भरा वह मौन है, तब मधुर स्वर सुकुमार!
आज मैंने बीन खोई बीन-वादन का अमर स्वर मार
आज मैं तो खो चुका सांसें-उसांसें और अपना लाडला उर ज्वार!
आज जब तुम हो नहीं, इस फूस कुटिया में कि कसक समेत
चेत' को चेतावनी देने पधारे हिय-स्वभाव अचेत!
और यह क्या वे तुम्हारे बोल!

×

कल्पना पर चढ़ उतर जो पर कसक में घोल
एक बिरिया, एक बिरिया फिर कहो वे बोल!

—माखनलाल चतुर्वेदी एक भारतीय आत्मा

प्रेम के भगवान का संगीत आंसुओं की तरलता में गुंजित होता है। स्वयं हृदय का मृदंग बजता था तुम तो बस बोलते थे। आज भीतर का शून्य भर गया है तो पूर्णता ने मौन को जन्म दे दिया है। बड़ी ही मिठास से 'एक बिरिया एक बिरिया' कहकर कवि अपनी कसक के लिए पुकार उठता है। या नये कवियों में प्रेम की वासना झूमती है इठलाती है यह सब एसी है जिसे हम अखबारों में भरा पाते हैं इनमें नये प्रतीक हैं चमत्कारों की भी कमी नहीं इनपर समाज और व्यक्ति के द्वन्द्व का भी

गहरा प्रभाव है और वाणी के परे यह भावभूमि म प्रतीक क माहित्य स प्ररणा लकर भी नवीन है। काव्य का सौन्दय इसम अनेक धाराओं म बह रहा है। यह तो देखना है। हृदय की बात का सारा उत्तरदायित्व उस इन्सान से रखा है। सयम क साच म ढलकर ही पिपासा सुन्दर रूप प्राप्त करती है। पिपासा क्योंकि तप म लीन है इसी लिए वह निरन्तर गल रही है। आसू ही रह-सह कल्मषा को धो देते हैं। आसू पवित्र होते हैं क्योंकि वेदना में वे गल-गलकर निकलते हैं। जीवन का सत्ता तो कुछ दिन की है। उसमें इतनी लगन है मानो साधना का कोई विराट क्षेत्र खुल गया हो

मेरी तपलीन पिपासा मे
हृदयानल म अविरत गलकर
सयम के साँचे में ढलकर
पाया है रूप-सुभग-सुन्दर
औ' रहे-सहे कल्मष इसके
पावन दृगजल ने धो डाले।
इस ही प्याले म आज मुझे
आकण्ठ पिला साकी हाला
कल कुम्भकार से और नया
ले आऊगा सुन्दर प्याला
मैं बदल चुका अगणित प्याले
सुन्दर कुरूप उनका जाने
प्याला तो मेरा है कुरूप
पर प्यास कुरूप नहीं जाने।

—चिरंजीत

चलो कोई बात नही यह ही दिन की बात है। कल कुम्हार स नया रूप ल आऊगा। शरीर तो एक प्याला है। उसम स तो हाला पी जाती है। वह तो मिट्टी का है। उसका सौन्दय क्या देखना। सौन्दय तो उस रस का है। इमा शरीर में वह सौन्दर्य भर लने की आज इच्छा है और अवसर मिला तो कल फिर नया जन्म होगा और तब नया शरीर मिलेगा। न जाने कितने रूप इसी प्रकार इस अनवरत यात्रा म बदले जा चुके हैं। कौन जान वे कितने प्रकार क थे? प्यास की कुरूपता स क्या है प्यास तो कुरूप नहीं है। पुनर्जन्म की यह आस्था अपनी स्थूल व्याख्या म तो आत्मा की यात्रा को अभिव्यक्त करती है किन्तु यह वस्तु-तथ्य बस बडा साहस प्रदान करनेवाला है। यह तो मानव की अबाध-अनियन्त्रित महागति का स्फुरण दिखलाता है जिसम मह की शून्यता नहीं रहती बल्कि निरन्तर बहते रहनेवाले परिवर्तित होते रहनेवाले जीवन के प्रति अनुरक्ति को जन्म देता है। अपराजित विजयघोष उठता हुआ सुनाई देता है और बाह्य के उन बधनों को तोडता है जो मनुष्य और मनुष्य के बीच खाई

खोजता है। पुरुष अपनी प्यास से भयभीत तो नहीं होता। कवि कहता है

यह तुमने क्या किया कि जो लौ
सहसा स्नेह-विहूनी कर दी?
अधकार में घुली उदासी
ढका राख से अङ्गारा था
यह अभाव का जीवन हम को
शतशत निधियों से प्यारा था
यह तुमने क्या किया बात बन
निठुर प्रज्वलित धूनी कर दी?

×

मैं कितना ही रहा पिपासित
प्यास न फूटी किंतु स्वरों से
तुम शीतल झारी भर लाइ
या सिमटी अञ्जलि अधरों से
यह तुमने क्या किया बूंद दो
ढाल, पिपासा दूनी कर दी।

—विश्वम्भर 'मानव'

हृदय ही तो है एक बार उसमें दर्द पैदा हो गया। ठीक है किन्तु फिर तो अपने अंगारे को अपने आप दबा लिया। बुझाना तो वह नहीं। वह क्या अपने बस की बात है? इतना ही किया जा सकता था कि उसे ढक लिया राख से यानी अपने को भस्म करके बहुत कुछ को भस्म करके फिर भी ढक लिया। किन्तु नारी ने आकर यह क्या किया कि फिर राख उड़ा दी, और फिर अंगारा दहका दिया! यह अभाव का जीवन तो सौ-सौ निधियों से भी प्यारा हो गया था, क्योंकि उसमें बड़ी जलन थी फिर भी अच्छी लगती थी। और अब ऐसी बात बन पड़ी कि धूनी-सी जला दी। वह जो सांसारिक यथार्थ में लिप्त हो चला था फिर उसने व्यक्तिवाद को जगा लिया कि योगी की सी निर्धूम तृष्णा जला दी। उसमें ऐसा हठ भर दिया कि वह अहरह अपने को खोने लगा। योगी की लगन भी तो बड़ी अचूक होती है। इसे हमारे साहित्य में तो मलिक मुहम्मद जायसी ने ही अमर कर दिया है। पुरुष कितना ही प्यासा था, प्यास फूटी तो नहीं थी कि स्वर का अस्पष्ट रूप धारण करके दूसरों की चेतना को छूने लगती! दो बूंद डालकर पिपासा बढ़ाना तो वास्तव में जान-बूझकर तड़पाने के समान है। इसी वेदना में कवि अन्यत्र एक मीठी कल्पना में अपने को विभोर कर देता है

वह कितना सुन्दर सपना हो!
जो आकर मेरे सिरहाने
तुम जलता मस्तक सहला दो

फिर बैठ पास झुक धीरे से
चूमो मेरे पीले कपोल
पोंछो गीले पलकों को यदि
नरमा कर फिर मुख फेर कहीं
मुख-मंडल सज्जारुण कर लो!
घटों बैठो मेरे पास प्राण!
फिर ज्वर से जब सहसा कराह
तुमको पुकार आँखें भर लूँ
वीड़ा से आनतमुख आँचल
से अश्रु पोंछ पीड़ा हर लो!

—नरेन्द्र

अक्सर बुखार में व्यक्ति अधिक कोमल हो जाता है। और सांत्वना चाहता है। यह सत्य है कि उस तपन में चुम्बन की प्यास कम ही रह जाती है परन्तु बीमारी बीमारी का भी तो फर्क होता है! फिर यह तो सपना है कोई सचाई थोड़े ही है। अगर ऐसा हो तो कैसा हो। कितनी दुखी है! कितनी रुकावट है! करुणा ही वास्तव में उभरती आती है कि यह व्यक्ति जब तक स्वस्थ था तब तक तो किसी प्रकार झेल गया परन्तु अब इससे नहीं सहा जाता। नरेन्द्र की कल्पना बड़े घरेलू किस्म की होती है। उसको समझने में बहुत जोर लगाना नहीं पड़ता। लोगों ने तो प्रिया के हाथ से पके भोजन उसके हाथों से परोसे जाने की ही प्रशंसा की थी कामना की थी किन्तु नया कवि पारिवारिक सुख चाहता है उसे अपना सूनापन खाए जा रहा है। एक ही क्यों न जाने कितने मध्यवर्गीय लोग इस वचनों में आकुल रहते हैं। नरेन्द्र में यह सूनापन बड़ी चपलता से व्यक्त हुआ है वह नई-नई सूझों पर उतरता है

बालारुण की किरण बनूँ मैं
दिन निकले ही आन जगाऊँ
जब तुम स्वप्न सेज तज जागो
खुली अलक अधखुले पलक हों
पलक शिथिल हों लसे वसन-से
अलकें फलों जानु तलक हों
बालारुण की किरण बनूँ
तुलसी की कनक-कनी बन जाऊँ!
स्नान सुशीतल शीत गात से
जब तुम वस्त्र सुखाने आओ
फैला खुली हुई बाँहों को
धुली हुई धोती फैलाओ

वासना : नारी

प्रेम और यौवन काव्य के मेरुदण्ड हैं। यौवन जीवन का वह भाग है जब विकास करने की शक्ति अपनी पूरी सामर्थ्य से जागरूक रहती है। बाल्यावस्था से सहज विकास करनेवाला व्यक्ति इसी आयु में बुद्धि का भी विकसित रूप प्राप्त कर लेता है जिसमें ग्रहण करने की संतुलित मर्यादा व्याप्त रहती है। बाल्यकाल में वह चित्रों और यथातथ्यों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेता है। उसमें जिज्ञासा और कौतूहल की ही प्रधानता होती है। वह निरंतर नये-नये वस्तु विषयों का संकलन करता जाता है।

यौवन एक आगे की मंजिल है। इसमें भाव और प्रवृत्ति का ही काम नहीं होता बुद्धि उस संकलन का संपादन करती है। इस अवस्था में अपेक्षाकृत ग्राह्य शक्ति कम हो जाने पर भी अपेक्षाकृत विवेचन-शक्ति बढ़ जाती है और मनुष्य के जीवन का यही वह समय होता है जब बहुधा भाव और तर्क अपना सामंजस्य स्थापित करते हैं।

यौवन में उद्दण्डता सहज स्वाभाविक होती है जो कालांतर में ही कम हो पाती है और दृढ़ता के रूप में परिवर्तित हो जाती है। बाल्यकाल में विस्मय की प्रधानता होती है यौवन में विस्मय लालित्य को ग्रहण करता है। सौन्दर्य की ओर विशेष अभिरुचि हो जाती है। नया रक्त आनन्द की अनुभूति करता है और उस समय मस्तिष्क की अनेक शक्तियों में से भाव की ही विशेष प्रबलता रहती है। बाल्यकाल में जहां प्रवृत्ति अपना प्राकृतिक कार्य करती है यौवन में सामाजिकता का परिष्कार होता है और भाव अधिक सशक्त हो जाता है।

सौन्दर्य रंग और रूप में ही समाप्त नहीं हो जाता। यौवन शक्तिस्फीत जागरूकता का प्रतीक है और वह सौन्दर्य को अपने भीतर ही अनुभूति पाने लगता है और जैसे जैसे उसका विकास अपनी परिधि को बढ़ाता है वह ऐसे स्फुरित होने लगता है जैसे कलिका खिलते समय अपना सम्मोहन फैलाने लगती है।

बाल्यकाल की अबोधता का स्थान यौवन में एक आनन्द की अनुभूति लेने लगती है। यही सहज स्वाभाविक विकास का क्रम है जो मनुष्यों के विभिन्न युगों और रूपों में अवस्थित रहा है। बाल्यकाल में जो संसार नया-नया लगता है यौवन में आंखें ठहरकर उस कुतूहलमात्र की भावना से पार होकर उस क्रिया व्यापार के सूक्ष्म और स्थूल रूपों को देखकर उसमें रस की सुखद व्याप्ति को ढूंढ़ने में लग जाती हैं।

जिस प्रकार बाल्यावस्था के बाद यौवन एक छोटे-से पक्षी के पंख फैलाने के समान है फैले हुए पंखों को चलाकर पवन की सांसों को थपेड़ा मारकर विस्तीर्ण गगन में उड़ने के समान है उसी प्रकार वृद्धावस्था उन खुले हुए पंखों को समेट लेने का नाम है उन पंखों को समेटकर आश्रयस्थल की खोज में नीचे उतरने के समान है।

जिस प्रकार प्रवृत्ति पर आश्रित काल बाल्यावस्था है भाव की सशक्त अवस्था का काल यौवनावस्था है वार्धक्य बुद्धि प्रधान हो जाता है और विचार उसमें अधिकांश सशक्त पाया जाता है जिसमें तर्क होता है हानि-लाभ की विवेचना करने की शक्ति होती है। तर्क और बुद्धि दोनों का मनुष्य के जीवन में क्रमशः विकास होता है। यौवन में विचार करने की अधिक शक्ति नहीं होती क्योंकि शरीर का बल अधिक होता है और वह बल आवेश का स्रोत है। इसका यह अर्थ नहीं कि वार्धक्य में प्रवृत्ति और भाव का लोप हो जाता है। दोनों ही जीवनपर्यन्त रहते हैं किन्तु प्रवृत्ति जिस प्रकार प्रारम्भ में अधिक सशक्त होती है भाव यौवन में अधिक सशक्त होता है वार्धक्य में विचार अधिक सशक्त हो जाता है।

हमारे समस्त प्रवृत्ति भाव और विचार मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियां हैं जो धीरे धीरे सामाजिकता के साथ विकास करती हैं। जन्म लेते समय शिशु में प्रवृत्तिमात्र होती है। कालांतर में भाव जगता है जिसमें प्रवृत्ति का वह उदात्तस्वरूप आकार ग्रहण करने लगता है जिसको बुद्धि का पुट प्राप्त होता है, जो समाजीकरणत्व का प्रभाव है। वार्धक्य में विचार प्रवृत्ति के उस रूप को प्रकट करता है जिसपर बुद्धि शक्ति अधिक प्रभाव डाल रहती है।

वस्तुतः काल-व्यवधान में जो गुणात्मक परिवर्तन करता हुआ भौतिक का विकास है वही तीनों अवस्थाओं का विश्लेषित सार है। सद् और असद् की भावना यद्यपि सापेक्ष है अपने समाज के प्रति सापेक्ष है, किन्तु वह इन वयों में काफी भिन्नत्व रखती है। सद् और सुंदर तथा न्याय की ओर जितनी सहज निरन्तरता यौवन में रहती है उतनी वार्धक्य में नहीं क्योंकि मस्तिष्क के चेतन तंतुओं का विकास यौवन के बाद बन्द होने लगता है।

बहुधा बहुत-से लोग वृद्धावस्था में बहुत भावुक भी पाए जाते हैं। इसका कारण यही है कि उनकी यौवन की भावाश्रित अवस्थिति अपनी लचक को खो नहीं पाती वह उनके व्यक्तिगत विकास के पथ में अपना महत्त्व विनष्ट नहीं कर देती।

अधिकांश कवि अपने यौवन के प्रारम्भ में ही कविता करना प्रारम्भ करते हैं। इसका कारण यही है कि उसी समय उनमें भावों का वह रूप विकास करता है, जो अपने भीतर सुंदरता की अधिक से अधिक अनुभूति को आत्मसात् करना चाहता है। यौवन की इस मंजिल में प्रायः हर लोग कविता पसन्द करते हैं और उन्हें उसमें आनन्द भी अधिक आता है। बचपन में जो कल्पनाशक्ति सृष्टि के विभिन्न विस्मयकारी स्वरूपों में अपने व्यक्तित्व का विकास पूर्णतया नहीं कर पाती यौवन में वह अधिक चेतन हो

जाती है और सृष्टि के नानाविध रूप-व्यापारों में सामरस्य खोजने लगती है। इस अवस्था में, पशु-पक्षियों के बोलने की पेड़ों के हँसने की तथा इसी प्रकार की कल्पनाएं जो बचपन में विस्मयमूलक आनन्द देती थीं उतना आनन्द नहीं देतीं। अब कल्पना अपने वैविध्य को समेटकर 'रागतत्वों' से अधिक निकटता स्थापित करती है और व्यक्ति केवल उपदेशमूलक आश्चर्य नहीं वह ऐसा विकास चाहने लगता है जिसमें उसके व्यक्तिगत भाव सक्रिय रूप में अन्यों के निकट आ सकें और वह सान्निध्य में अपना भी विशेष आनन्द प्राप्त कर सके।

जीवन के वैविध्यों में सामरस्य की अनुभूति को प्राप्त कराना काव्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है। हम विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं उनमें जीवन के नानाविध रूप प्रकट हुआ करते हैं, किन्तु उनको खंड रूप में देखने से मन को तृप्ति नहीं होती। प्राचीनकाल में इसीलिए ऐसे काव्यों का सृजन हुआ, जिनमें जीवन के विविध रूप चित्रित किए गए किन्तु कालांतर में लोगों ने अनुभव किया कि चित्रण मात्र हमारे ज्ञान के लिए भले ही आवश्यक हो किन्तु जब तक उस सारे चित्रण में हृदय-तत्व नहीं होता तब तक वह काव्य की संज्ञा नहीं पा सकता। इसीलिए जब वैदिक युग समाप्त हुआ और भारतीय सामंतकालीन व्यवस्था के चिंतन ने सिर उठाया तब उसने वेद, उपनिषद् और ब्राह्मण साहित्य तथा पुराणों को भी काव्य की संज्ञा से अलग रखा, यद्यपि उनका महत्व धार्मिक ग्रन्थों के रूप में स्वीकार किया गया। इसका कारण यही था कि नया युग अपने कवि को पुरातन के आवश्यक बंधनों से स्वतंत्र रखना चाहता था। काव्य को यदि गहराई से देखा जाए तो वह निरंतर इसी मूलतत्व को खोजनेवाली भावात्मक पद्धति का नाम है, जिसको लेकर इतिहास में मनुष्य ने अनेक प्रयोग किए हैं। समस्त और व्यस्त सूक्ष्म और स्थूल बाह्य और अंतस्थ आदि अनेक द्वंद्वों ने विभिन्न युगों में अपना विकास किया है। वर्तमानकाल मानो इस समस्त द्वंद्ववाद की नई चपेट लेकर उपस्थित हुआ है इसमें हमें सर्वाधिक असंतोष दिखाई देता है क्योंकि नये कवि का मानसिक आधार एक बहुत ही परिवर्तनशील भूमि पर बनता बिगड़ता है। जिस युग में हमें कुछ नैतिक नियम दृढ़तर बने दिखाई देते हैं उसमें हम आस्था का रूप स्पष्ट ही परिलक्षित हो जाता है किन्तु जिस युग में हमारे भीतर ही एक हलचल भरी हो वहाँ हम ऐसी कोई स्थिरता दिखाई नहीं देती। अतीत और वर्तमान का द्वंद्व यहाँ निरंतर मुखर होता जाता है। किन्तु वर्तमान के कवि ने सदैव अपने अतीत को ठुकराने का प्रयास नहीं किया है। उसका विरोध है उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने में, क्योंकि उससे उसकी तृप्ति नहीं होती। फिर भी जो अतीत की रम्य भावना है, उसे उसने अपने भीतर तक प्रतिध्वनित करने की चेष्टा की है। तारा पांडे कहती है

दूर किसी ने वेणु बजाई।
संध्या की धूमिल-सी बेला

परदेशी वह पथिक अकेला
बैठा शांत अलांत हो उन्मन
पथ में गो-पद धूली छाई।
नीरवता में गूंज उठा स्वर
अमर सुधा प्राणों म भरकर
पलकें पथ पर बिछ-बिछ जातीं
खोज रही किसकी परछाईं।
×
गाओ हे अनजान विदेशी
मन आज क्यों तुम परदेशी
किसकी सुधि से होकर आकुल
बड़ी-बड़ी आंखें भर आईं।

—तारापांडे

नारी की मूलभूमि सृष्टि है और सृष्टि का आधार वासना है। वह उस सृष्टि ही अपने से अलग नहीं कर पाई है और सम्भवत कर भी नहीं सकेगी। उसका नीरस होने का भय सृष्टि के नियम का समाप्त हो जाना है। वह पालन करती है। पुरुष की निर्ममता उस समय अपना सिर उठाती है जबकि उसका अपने चारों ओर से सामजस्य नहीं बैठता। नारी इस सामजस्य को पुरुष की भांति अपने से अलग करके नहीं देखती। वह तो उसम अनिवार्य रूप से विद्यमान है।

उसे दूरागत आकर्षण की यह वंशीध्वनि चिरंतन सात्वना देती रही है। उसने जिसे प्राप्त कर लिया है उसकी वास्तविकता को वह अपनी प्राप्ति से भी बड़ा बनाकर देखना चाहती है क्योंकि उसकी देह जो एक मातृत्व सृष्टि का माध्यम है वह उसी में अब समाप्त नहीं हो जाना चाहती। इसी ध्वनि को हम मीरा की तन्मयता म भी प्राप्त करते हैं। यहां हम आसक्ति एक लघुता की ओर खींचती हुई नहीं मिलती। छायावाद के विषम तथा उलझे पथ यदि हम खड़े नहीं करें, तो ये कविताएं हमारे मानस को अधिक छूने की शक्ति रखती हैं। नारी तो शरीर-मात्र नहीं है वह किसीके पास पहुंचनेवाली अनुभूति का एक प्रकारांतर मात्र है जो पुरुषों में भी है। कवयित्री कहती है

परवशता से मेरे अन्तर
की सब भूमि हुई थी काली
विश्वासों के छिन जाने से
सूख गई थी सब हरियाली
पावस छमा लिये तुम आये
डाल डाल पर फल खिलाये

पूजा-पाठ योग-तप सारे
पुण्यकर्म जो कुछ कहलाते
पर मेरे प्राणों के नभ में
भय के बादल छाते जाते
तुम मुस्काए मेरे नभ में
जनम जनम के धुंध मिटाए
मोहनिशा-सी प्रबिग बनीं जब
सत्कृतियों की सकल भूमियां
और प्रगति की जड़ता से जब
प्रबल बन गई यहां रूढ़ियां
तुमने अपनी क्रमठता से
पथ के बाधक शाल हटाये।

—विद्यावती कोकिल

अपने नये प्रिय के रूप में वह अपनी विद्रोही आत्मा की ही प्रतिध्वनि सुनती है, तभी वह अन्यत्र कहती है

मुझको तो तेरी अस्ति छू गई है। अब मैं भार से विचलित नहीं होती, न ताप से विगलित, न शाप से विचलित होती हूं। जैसे सब स्वीकार बन गया हो मुझको तेरी अस्ति छू गई है। दरिद्रता का मतवाला नर्तन है, पीड़ाएं आशीष-वर्षण के समान हैं तेरी चितवन का मूक प्रदर्शन जैसे मेरा सुख मनुहार बन गया हो ऐसी तेरी अस्ति मुझे छू गई है।

अनंत और महान की यह तन्मयता जो हमारे काव्य में आई है वास्तव में नये विश्वासों की अभिव्यक्ति है जो समाज के बंधनों के कारण इस रूप में प्रकट हुई है। स्पष्ट ही यहां एक विद्रोहकारिणी क्षमता है जो विरक्ति की जगह आसक्ति में नया विश्वास उत्पन्न करती है। नारी की इस भावना को हम पुरुषों में भी पाते हैं। 'मजदूरिन' में केसरी ने भी इसी प्रकार की तन्मयता का अनुभव किया है। सो जब हम नारी की वासना का प्रकटीकरण करते हैं तो शरीर से स्त्री कहलानेवाले प्राणी का वर्णन नहीं करते, वरन् उसकी जो अपनी भावाभिव्यक्ति है उसको ही अपना वर्ण्य विषय बनाते हैं। मूलरूप में वेदना अपने को निर्द्वन्द्व रखती है, क्योंकि वह जीवन की धारणा को मांगती है, तभी कहा है

पिया! सुधि कैसे रहा बिसार
हाय! यह फागुन बीत चला!
ऋतु वसंत छवि गृह-गृह छाई
फूल उठी सुरभित अमराई

गाँव-गाँव की कुटी-कुटी में
हाता बिछुड़ों की पहुनाई
'आज प्यार का पथ वियोगिनि'
कोयल यह संदेशा लाई
मेरी हो दुनिया सूनी क्यों
हूक-भरी बालम-सुधि आई
हिया होगा वह कुलिश-कठोर
आज भी आह ! न जो पिघला
पिया ! यह फागुन बीत चला।

—कमला

इस वेदना का एक जायसी की नागमती की एक झलक भर देता है। हम यहा जो मजदूरिन मिलती है वह अपने वग से कहीं अधिक अनुभूति रखती है। निम्न वग का मनुष्य अपनी अशिक्षा और शताब्दियों के संस्कारो के कारण जब तक नयी चेतना के संपर्क म नहीं आता तब तक वह अपनी वेदना को उतना अनुभव नहीं करता जितना शिक्षित हो जाने के बाद। कवि न उसके मानवीय रूप को उभारा है। भले ही मजदूरनी इन शब्दों में अपनी वेदना नही समझती किन्तु उसका मानवीय तत्त्व इन भावों से दूर नहीं रहता उनके प्रकटीकरण का अपना स्वरूप कुछ भिन्न ही क्यों न हो। वास्तव म इस प्रकार का चित्रण लोक-गीतों की धनघनाती व्यथा के कारण हुआ है।

प्रकृति का सौन्दर्य संवेदना को जन्म देता है और नारी के भीतर एक हलचल उत्पन्न होती है। हलचल का रूप प्राय भारतीय स्त्री म अपना समपण ही करता रहा है। स्त्री अपने को स्वतन्त्र करके जब देखती है तब संभवत वह अपने को बहुत ही अकेला पाती है बल्कि ऐसी कल्पना भी उसे अग्राह्य होती है। अपनी पूर्णता का एक रूप उसमें पूर्ण समपण है और वह उस समपण को सृष्टि के व्यापक मूल तत्त्व से जोड़ना चाहती है

मैं केवल चरणों की दासी।
पद रज है मेरा अगराग
नित नई सुगन्धित रज पाती,
अनुकम्पा है मेरा सुहाग
जिसको लाली मन हर जाती
मैं बार-बार वे पद छूने
बस जनम-जनम से हूँ प्यासी
निर्वाण यहीं है मुक्ति यहीं
मेरा काबा मेरी काशी।

×

है नहीं रूप का लोभ यहाँ
जीवन बन जाता नहीं भार
यौवन का यहाँ चढ़ाव नहीं
है और न आता है उतार
मुझको न तपाते ताप यहाँ
मुझको न सताते सु-खयार
पगचिह्न बने वट वृक्ष और
सब ठौर हो रही छाया-सी

—विद्यावती कोकिल

जिस महान की सत्ता एक ओर स्पष्ट नहीं दिखती वह अंततोगत्वा इसी धरती में प्यार के रूप में प्रकट होती है। वह अपनी क्षुद्रता के परे हो जाती है और जन्म जन्मान्तर के बंधनों को स्वीकार करती है। मानो जो समस्त की व्याप्ति है उसमें जो एक अविश्रांत मात्रा है वह उसे सकारण दिखाई देती है, उसके प्रति उसे अनासक्ति नहीं है, बल्कि उसके प्रति उसके हृदय में एक प्रीति है जिसे वह पवित्र मानती है। ये पगचिह्न जिनकी छाया में सब व्याप्त है, इस कवयित्री को अपनी ओर इसीलिए आकर्षित करते हैं क्योंकि उसका सुहाग जो एक पार्थिव आनन्द का साधन है वह साधन है जिसकी प्राप्ति में उसे आत्मिक संतोष प्राप्त होता है वह उसे अपने निकट सम पाती है। केसरी में यही वेदना अपने को वाह्यमुखी बनाकर प्रकट करती है, क्योंकि उसने केवल अंतस्थ में अपने को समेट नहीं लिया है

कितने दिन से आह, यहीं
मधुमास मास से न जीती हूँ
धुपधुप जग की चहल-पहल से
दूर अधु गम के पीती हूँ
गौरया-सी चुन-चुन खेतों से
दाने फल-फूल सलोने
अपने प्रवय विहारी हित
डाबरी-सी लाती भर भर दोने
सुना सकी थी किन यत्नों से
तेल भरी सरसों का थोड़ा
रुपये भर का थी पते-पते
था जिसे महीनों जोड़ा
पड़ी यहाँ वह कितनी साध
उमगों को लेकर घरपाई

कितने दिन ठाकुर के घर की
जिसके हित सरतोड़ कमाई
साक्षी है आँगन का यह
तुलसी बिरवा प्राणों का प्यारा
चबूतरा जिसको पुनीत गोबर
से मैंने नित्य सवारा
कितने कातिक और माघ
गंगाजल जिसपर सभुद चढ़ाया
कितने दिन रे तपस्विनी-सी
मैंने दीपक अर्घ्य जलाया
किया व्रत कौन न मैंने ? किन्तु
विफल सब, एक न हाय फला
पिया, यह फागुन बीत चला।

—केसरी

नारी के ये दो रूप हम आधुनिक कविता में प्राय प्रत्यन्तर से प्राप्त होते हैं। जीवन के कठोर श्रम की परिणति भी एक प्रम की चाहना पर पलती है। और जो अपने लिए साधन जुटाना कठिन नहीं पाते वे भी अपनी अतृप्ति को ही महत्त्व देने को विवश होते हैं।

वगवा" की चिंतना इन दोनों के दो रूपों को देखती है कि एक म संघर्ष है, दूसरे म पलायन। किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों म ही यहाँ संघर्ष है, संघप के स्तर अलग हैं संघर्ष क क्षेत्र अलग हैं कुत्सित समाजशास्त्री चिंतन न इसे आज तक नहीं देखा है। सौन्दय का सृजन यदि हम तृप्ति देता है तो यह समझना आवश्यक है कि वह कुरूपता के स्तरों को फाड़कर जन्म लेता है उसे उपयोगितावाद की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता क्योंकि उसका मूल तत्त्व करुणा है

मेरे मधुमय गान सजल तुम
तुम निशीथ के करुण राग हो
राका रजनी के सुहाग हो।
अभिलाषा के घन अघोर
नवयौवन के अरमान सजल तुम!
तुम दो हृदयों के कम्पन हो
तुम कोमल आशा के घन हो।
चपल प्रिया के मान हठीले
मिलनातुर अभिमान सजल तुम!

तुम सयोग के आलिगन हो
तुम सम्पन्नता के चुबन हो
मदमाते अपलक नयनों के
ओ मादक वरदान सजल तुम !

—श्याम बिहारी शुक्ल 'तरल'

करुणा का आधार मानवीय मूल्यों का अकन करना है। सौन्दर्य का दूसरा भी एक पक्ष है जसे आकाश के सुन्दर बादलो की रंगीनी का चित्रण। वह आत्मसुख देता है अपने उद्दीपन और सम्मोहन के कारण वह हमारे उपयुक्त पक्ष से बिलकुल अलग है यह हो सकता है कि इनमे पूर्वापर रूप से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हो। तरल' में मिलन की तृष्णा हम अपने संकुचित दायरे में नहीं मिलती। इसीलिए उसे महत्त्व देना आवश्यक है। छायावाद ने जो क्रमश अपना विकास किया है, उसको देखने से हम अनेक विशृखलित कडियां जुडती हुई दिखाई देती हैं। यह परिवर्तन ऐसा धीमा सा है कि हमे वह धोखा नही देता क्रमशः आगे ले जाता है।

हमारा मध्यकालीन चिंतन मूलत अभावात्मक रहा है। प्रमी के रूप में उसको देखा अवश्य गया है किन्तु उसे सूक्ष्मतम बनाया गया है। सगुण रूप मे भी वह दायरे मे बधा रहा है। वर्तमानकालीन छायावादी कहे जानेवाले कवियों मे पहली बार हमने यह देखा कि 'उसको सीमाओ के पार देखने की चेष्टा हुई। यह परवर्ती कवियों का ही काम रहा कि उसको जीवन की समस्त मांसलता मे संबद्ध किया गया और उसको अपनी व्यवहार क्रियाओं मे अत्यन्त निकटतम करके देखने का प्रयत्न प्रारंभ हुआ। यहां वह सजीव प्रिय है

आज न उनसे बात करूंगी !
अपने दिल की धड़कन में ही
उनके मीठे गीत सुनूंगी
मेरी वाणी, उनकी पीड़ा
बने न, आली ! मौन रहूँगी।
मेरे उर के अलस सिन्धु की
सजनी ! सारी आज उमगें
बह न सकेंगी आँखों से री
आँसू की बन तरल तरगें
और कहीं इस अटल मौन से
उनके दिल में आग लगेगी
तो यह उनकी आज प्रयसी
उनके पद चुपचाप गहेगी।

अपनी पीड़ा पीकर भी मैं
उनको शाश्वत सुखी रखूंगी।

—हीरादेवी चतुर्वेदी

वह यदि केवल परमात्मा है तो उसको शाश्वत सुखी रखने का प्रश्न ही कहा उठता है ? कवयित्री का मानस अपनी ही पीडा से वास्तव म सशंक है।

विद्यावती कोकिल कहती है कि ये मेरी पूजा के क्षण हैं। ओ मेरे आंसू अभी बहना मत। इस समय मेरा प्राण स्पंदित-पुलकित है कहीं तुम असगुन करके कुछ कह न देना। ओ मेरे पाप अभी मत जागना न मेरे पुण्यो ! तुम ही ठगना क्योंकि मेरे अर्पण तक से परे हैं। अधकार में दीपक की ज्योति खो गई है नास्तिकता की भक्ति बन गई है, मेरे आकर्षण तो केवल हैं।

कोकिल का अर्पण बुद्धि का विरोधी नहीं है बुद्धि के सर्वत्व का विरोधी है क्योंकि बुद्धि अपने आपमें कभी पूर्ण नहीं है। आधुनिक चिंतन सब कुछ तर्क पर रखता है परंतु उसे नास्तिकता कहने में भी हानि नहीं है क्योंकि वह अपनेको व्यापक नहीं बनाता। फिर यह तो प्रेमी के हृदय की पुकार है। वासना की अनुभूति की तीव्रता म जब मेघ को भी दूत बनाकर भेजने की परम्परा भारतीय साहित्य मे विद्यमान है, तब फिर कोकिल की विवशता क्या सहज नहीं है ? जब स्त्री अपने एकांत म ही अवरुद्ध रह जाती है, तब भी तो वह पराजित नहीं होती। उसकी चेतना अपने-आपको एक नई गति-लय से भरती है।

मेरी एक निराली दुनिया
मैं हूं उसकी रानी
मैं ही कहती, मैं ही सुनती
अपनी नित्य कहानी
हँसती हूं तब चारु चन्द्रिका
वसुधा पर छा जाती
रोती हूं, अविराम झड़ी तब
मेघों से झर आती
मेरी मिहदी की लाली से
नव वसन्त नित आता
मेरी पायल झनकारों से
जग मादक बन जाता
मेरे सिर का शीषफूल जब
चारु चन्द्र मुस्काता

कोलाहल मे संभवत 'वह' किसी दिन छिपकर आया था, और आज अनुपस्थित होने पर भी 'वह' उसी प्रकार चला आ रहा है। कोलाहल आनन्द का है, केवल दर्शिका का मानस-पक्ष उसे अपने से कुछ अलग रखता है, क्योंकि उसे पूर्ण तृप्ति नहीं मिल रही है। इसीलिए व्यतीत होता हुआ समय उसके सामने से व्यर्थ चला जा रहा है उसे अब कोई आकर्षण नही लगता। उन्माद के माध्यम से आनेवाली याद की अवस्थिति ने भी यह नही भुलाया है कि यह जीवन वास्तव म असिद्ध नहीं है, इसकी एक सार्थकता है इसके लेखे-जोखे की आवश्यकता है। इससे स्पष्ट होता है, यह व्यक्ति अपने को किसी व्यवस्था के अतगत ही मानता है। हृदय की कैसी भी सुलगन 'प्रिय' की मर्यादा के विरुद्ध नहीं चलती। यह तो हुई पुरान प्रेम की बात। अब एक ताज़ा घाव है। उसमें हृदय का अनुराग तो है ही, उसम मानिनी का आक्रोश भी है। किन्तु फिर भी यह संयत है। अपने लिए रोना, और उसे निरावरण कर देना जस हमारे यहां कोई स्त्री अच्छा ही नहीं समझती

सौ अकम्पित वेदना पर
रात बन ढलती रही है,
स्नेह की आकुल विवशता
ओस-सी झरती रही है।
यह नहीं अनुराग मन का,
दीप का अभिमान ही तो जल रहा है।
—दीप बुझकर जल रहा है।
ज्योति की दुबल शिराएं
मृत्यु की सीमा गहन है
सांस के अगार पलते
राख का आधार पाकर!
यह क्षितिज का घाव ही तो
चांदनी बन गल रहा है।
किस प्रवासी के हृदय का
दीप अब तक जल रहा है।

—कुमारी त्रिवेणी मिश्र

वेदना तो दीपशिखा-सी जलती है परन्तु स्नेह की यह विवशता जो कि आकुल है ओस की भांति झरती है। क्यों? क्योंकि यह बहुत व्याप्त है। उसे किसी शीतलता ने पिघला दिया है। यह कोई 'नीर भरी बदली' नहीं कि खेल-खालकर चल दी। इसको अपने ऊपर इतना विश्वास भी नहीं कि यह विवशता कभी सूर्य का प्रकाश भल भी सकेगी या नही? इसे जब अपनी वेदना की शिराएं ही दुबल लगती हैं तब इसे मृत्यु की सीमा का गहन लगना तो नितांत स्वाभाविक है। किन्तु एक बात जो सबसे अधिक

ध्यान देने की है और जो टीस जगाने में समर्थ होकर कविता को हमारे सामने ले आती है वह इसमें आनेवाली चित्रात्मकता है। सास के अगार का रास का आधार पाकर पलना, ऐसी सुन्दर और पूर्ण कल्पना है कि हम यहां पहुंचे की वर्णित निबलता का रहस्य खुलता हुआ मिलता है। वह यह कि यहां सारे आलोक अपने को विसर्जित करके सबको उजागर करके ही अपनी साधना को पूर्ण कर रहे हैं। इसीलिए स्नेह की सत्ता क्षणिक हो सकती है, पर वह साधना जो कि अन्यों के हित लगी है वह सीमित नहीं है वह 'मैं' से परे है

मैं बनकर तेरा परिधि-केन्द्र
तुझको अपने म लय कर लू
मेरे जीवन के हास रुदन
तुझको मनों म मैं भर लू।
पल में युग-सा, युग मे पल-सा
कितना सुदूर, कितना समीप
मधु सिञ्चित कर दू पथ तेरा
यह अश्रु अश्रु हो रजत दीप!
इन दीपों पर पग धर धरो
आलोक लुटाता आ जा रे!
नीलम की नेह भरी प्याली
छू सरस दिवाली कर जा रे!
अपने अधरों का दीपक मधु
मेरे अधरों पर ला धर दे
चिर लौ से युग-युग जल आऊँ
मुझको ही दीपाली कर दे।

—मर्दपाल

'मैं' ही अह है। अब वह पुरुष की भटकन को नारी के स्नेह में बन्दित कर लेने की इच्छा है। यद्यपि जीवन के सुख और दुःख दोनों ही उसम समन्वित हैं, किन्तु यहा केवल सुख को ही लने की कोई ऐसी तृष्णा नहीं है। एक-एक आसू को प्रास स बहते हुए चमकते आंसू को चादी का दीपक बनाकर रखना उन दीपकों पर पाव धरकर आने का आवाहन दना कि निरतर आलोक फलता चला जाए, और दिवाली कर देन की आकुल पुकार सब उसी व्यक्तिमूलक 'अह के उजागर हो उठने के लक्षणों की ओर इंगित करना है। इतने में ही सीमा नहीं हो जाती। यह 'अह इतना पुलक्त' है कि वह 'काल की रेख पर मेख मारे' की भाति अपने को भी दीपक की लौ की भांति जलाकर दीपावली करने को समुद्यत है क्योंकि उसको अपनी सत्ता की सुलगन का कोई भय नहीं, सुलगन भी हो तो ऐसी कि उससे निसीमा लाभ तो हो! अह का यह

तिरस्कार नहीं, यह तो उसकी स्वीकृति है और इस स्वीकृति के पीछे तो स्पर्धा भी है

मैं ही शेष रहूँ—क्यों जग में
मुझको भी कुछ पा लेने दो !
मधुर वेदना दीप सजा है
तिल तिल मन का स्नेह जला है !
मन साकार राग दीपक, यह—
आग लगाने आज चला है !
मन की पीर कहाँ जाए रे
कुछ तो ज्वाल बुझा लेने दो।

—गिरिजा माथुर

सब ही कुछ न कुछ पा रहे हैं और प्राप्ति सदैव इकाई के माध्यम से ही हो रही है फिर हर एक की पूर्णता के समय यह मैं ही क्यों रह जाए ? जिस प्रकार समस्त अंग अपनी सार्थकता चाहते हैं और उसके द्वारा अपने पूर्ण की बहुविध व्याप कता का बोध कराते हैं उसी प्रकार पूर्ण को अपने से अलग करके नहीं देखा गया है बल्कि अणु अणु की अलग अलग सत्ता को भी मानकर उन सबको एक सामरस्य में जोड़ा गया है। दीप तो आखिर वेदना का ही है यदि वही न हो तो जो एक को दूसरे के समीप लाने का भाव है वही जीवित क्योंकर रहे ? स्नेह जलने पर ही तो आलोक होता है। किन्तु अह अचानक अपनी ही चेतना को कुण्ठित देखता है और जिस लौ का उसे गर्व था उसीको बुझा देने की इच्छा करता है। यह क्यों ? इसका तात्पर्य स्पष्ट ही है कि वह वेदना का दीप अब आग लगाने को चल पड़ा है। उसका काम तो केवल उजाला फैलाना था। यदि वह अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करता है तो अह को पूर्ण अधिकार है कि वह उसको बुझाने की पुकार उठाए। यह द्वन्द्व नहीं है यह विसर्जन है यह अपनी सत्ता के स्वाभिमान की पहचान है। उसको छोड़कर अपनी विवशता का दैन्य दिखाना अह को नहीं भाता। यही अह जब अपने को पूर्णतया सहज पाता है तब वह बहुत ही कोमल मोह की सी वदना को छोड़ने लगता है।

बटोही जा रहा है उसकी याद हृदय को सताती है

चले जा रहे होगे तुम ओ दूर देश के वासी
चली रात भी, चले मेघ भी, चलने के अभ्यासी
भरा असाढ़ घटाएँ काली मन में खटकी होंगी
चले जा रहे होगे तुम कुछ स्मृतियाँ अटकी होंगी
छोड़ उसाँस बैठ गाड़ी में दूर निहारा होगा
जब कि किसी अनजान दिशा ने तुम्हें पुकारा होगा
हहराती गाड़ी के डिब्बे में बिजली के नीचे
खोल पृष्ठ पोथी के तुमने होंगे निज दृग मींचे

सर सर सर पुरवया सहकी होगी सुधि मडराई
तभी बादलों ने छींटे दे होगी तपन बढ़ाई
लाल लाल घन अलक-जाल काजल आंजे मदमाती
पागल सपनों की बाँहों में होगी तुम्हें झुलाती
दौड़ रही होंगी वर्षों की पाँतें साथ तुम्हारे
चमकीले मुह के जुगनू औ' झिल्ली की झनकारें

×

चलते रहो सचेत बटोही कभी मिलेगी मंजिल
मिल लेंगे हम ज्यों झोंके से लहराता मलयानिल।

—सुमित्रा कुमारी सिन्हा

उसाँस छोड़कर गाड़ी में बैठकर दूर तक देखना कितना स्वाभाविक चित्र है! ऐसा लगता है जैसे बादल झूल झूल आते हैं। रेल भागी जा रही है। मन नहीं लग रहा है। बिजली के आलोक में किताब खोलकर पढ़ने का प्रयत्न हुआ किन्तु सब निष्फल। पुरवया लहकी कि सुधि मंडरा आई। छींटे देकर तपन बढ़ाना जीवन की गहरी जानकारी है जैसे पहली बौछार से धरती हाँफकर गर्म साँस छोड़ती है जैसे जलते तवे पर पड़े छींटों ने आफत ढहा दी हो। जुगनू ही काफी था वह तो चमकता ही है किन्तु यहां कवयित्री का मन तो जुगनू के साथ है तभी वह कहती है कि यह जुगनू जिसका कि मुख ही चमकीला है बाकी तो यह स्वयं भी अंधकार में डूबा हुआ है।

मंज़िल मिलेगी विश्वास बहुत बड़ा है, और मिलन भी होगा ऐसे अकस्मात् जैसे हवा का झोंका मिलता है। पर एक बात देखनी रह न जाए कि हवा के झोंके का मिलन बड़ा पूर्ण होता है, इतना अहर्य होकर रोम रोम को बांधनेवाला पुर जानेवाला।

सुमित्रा कुमारी सिन्हा का काव्य मीरा की भांति निर्भय है वह अश्लीलताओं का प्रयोग प्राय: नहीं के बराबर ही करती है। उसमें बड़ी लोच है बड़ी मनुहार है। कसकन की तो बात ही क्या

मेरे प्यार सनिक तो बोलो!
नभ के आँगन में तारापति मेघपरी से किलक रहा है
चाँदी की रातों की बातों का रस छल-छल छलक रहा है
मंदिर भीतर दीपक जलता द्वार बन्द है आओ खोलो।

×

छूम छनन कर नाच उठे मेरी बेहोशी यह इतराकर
बोलो प्राण बिना बोले यह गीत चलें कैसे इठला कर
इस तपती जगती में बोलो बोलो मस्त पवन से डोलो!

×

दीप मौन का आश्रय लेकर मानस बीच छिपोगे कब तक
बिन बरसे मेघों से व्याकुल मड़राते डोलोगे कब तक
ओ मानी, मस्तानी तानों से दामिनि की कारा खोलो।

—सुमित्रा कुमारी

आनन्द की मस्ती यौवन की ठुमक सब हमें यहां मिलता है। प्रकृति के दम्पतियों का मानवीकरण उसमें काफी पाया जाता है। चन्द्रमा मेघपरी से किलक रहा है, किलक शब्द जिस चंचल क्रीड़ा का पर्याय है, वह स्वत ही लुभावनी कही जाती है और जो इस विषय के जानकार हैं व तो इसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण कहते हैं। चांदी की रातों का छल-छल छलकता रस चांदनी है जैसे किसी प्याले में नीलम के प्याले म चमकते फल दिखाई दे रहे हों। मंदिर के भीतर दीपक जल रहा है उसे खोलकर देखने की गुहार है। और जब 'वह' समीप आता है तब मानस नाचता है बेहोशी बेसुध तन्मयता इतना उठती है, अपने पर गव कर उठती है अपनी सत्ता के हिंदोल की प्रतिध्वनित करती है उसके चरणों म चपल आनन्द स्फुरित होकर बोलने लगता है। और फिर कठोरता क्या ? वह' कसा जो प्राण बनकर भी बोले नहीं। उसके बोले बिना गीतों से इठलाहट कसे पदा हो व चलें तो कस ? इस संसार म तो तपन छाई हुई है। उस वेदना की ऊष्मा में तो मस्त पवन की भांति डोलने की आवश्यकता है वह पवन जो कि तृप्त कर दे ! वह दार्शनिकता किस काम की कि हृदय के भीतर ही लय कर लिया किन्तु अपनी अभिव्यक्ति कोई न की। मघ तो वे ही ठीक हैं जो बरस जावे हैं, खाली घुमड़ने से क्या लाभ ! जल बरसे ता कुछ शीतलता तो हो आनन्द का सिंचन तो प्राप्त हो !

और जहां यह आनन्द नहीं जहां अभी प्रिय की ही पहचान नहीं वहां कितनी उलझन है

सखि ! मैं क्यों फिर अभिमान करू ?
पतझड़ की सूखी डालों पर
मेरा अलसित यौवन भूला
और मलय के निठुर झकोरों
से धूल भरा तन खेला
शाप भरा एकाकी जीवन
ले क्या जग में मान धरूं
तम में बुझते से आलों ने
अपनी पलकों से पथ जोया
ले धूमिल सी छाया मैंने
रजकण मे संसार सँजोया

हो सके जीवन-दान लिए क्या
सुख-दुख की पहचान करूँ?

—सत्येन्द्रा भटनागर

तृप्ति का पथ ही स्पष्ट नहीं यहाँ तो भीतरी कपाट सूनापन ही उत्पन्न करेंगे। दर्शन की नीरसता अपनी अभावात्मकता का ही तो प्रकटीकरण करेगी ! पथ जोया परन्तु छाया धूमिल ही बना रहा। रजकण से तो सभी का संसार संजोया हुआ है। परन्तु यहाँ तो बात ही दूसरी है। जीवन दो क्षणों का लग रहा है। उसमें क्या तो सुख क्या दुख ! इन सबका वास्तविकता की जानकारी हो भी कम ? किन्तु क्षण भी तो अपनी साधना रखता है। सुख और दुःख किन्हीं लम्बी अवधि में नहीं रहते वे किसी क्षण-विशेष का ही अनुभूति होते हैं। इसका कवयित्री जानती नहीं हो ऐसा नहीं है। वहाँ तो प्रश्न में दोष ही दूसरा है कि जीवन एकाकी है आप-भरा है उसपर इस संसार में मान भी लिया जाए तो क्या ? मलय के झकोरे अपने-आप निष्ठुर लगेंगे ! सूर की गोपियों को भी तो मधुवन बुरा लगा था जो पूछ बैठी थीं कि 'ठाड़ क्यों न जरे' प्रकृत वेदना का समाधान अभिव्यक्ति सहज और मर्मस्पर्श नारी-हृदय ही से होता है और नव युग में यह हमें अत्यंत सुन्दर रूप में प्राप्त होता है क्योंकि नारी स्वतन्त्र हो रही है परन्तु अपनी मर्यादा के अनुरूप अपना गौरव भी बनाए रखती है, और उसका दृष्टिकोण विकृत नहीं होता

> काश तू यदि प्रिय तुम्हें मैं स्नेह के मृदु बंधनों में
> तो न खुल सकतीं कभी फिर विश्व की दृढ़ शृंखलाएं
> मृदु उमंगों से रहा भर कौन रीते गान मेरे
> सजल स्वप्निल गान मेरे।
>
> जल रही पथ पर सकुचती दीप की निस्पन्द बाती
> छोड़ कर सूनी अमा के सांझ तम की अमलाए
> सो रहे हैं आज सूनापन लिए मन-प्राण मेरे
> विकल तन-मन प्राण मेरे।
>
> आह फिर भी स्वप्न-सी मुझको बनी है नींद रानी
> मैं अकेली ही रही चल मग-नीराजन सजाए
> हस न पाते किन्तु फिर भी तो यह वरदान मेरे
> मधुर-से वरदान मेरे।
>
> चाह के पागल स्वरों को ले उड़ी उच्छ्वास मेरी
> एक नन्हीं टिमटिमाती आस मुझको क्यों न भाए,
> बन गए भर मौन वीणा में मधुर आह्वान मेरे
> सिहरते आह्वान मेरे।

व्योम की धूमिल डगर से झांकते नीरव सितारे
किंतु सीमित हो रहीं उनकी पुरानी स कामनाएँ
आज सीमा में मुझे भी बांध लो अरमान मेरे
सकुचते अरमान मेरे।

—शैल रस्तोगी

स्नेह के बंधनों में नारी पुरुष को बांधना चाहती है। क्योंकि पुरुष सदव अपने को भारतीय चिंतन के त्यागमय पक्ष से प्रभावित होकर समाज से अलग कर सके की चेष्टा किया करता है। आज नारी के रीते गानों में मृदुल उमंगें भरी जा रही हैं।

प्रेम के इन गीतों के प्रति यदि कहा जाए कि ये नशीले हैं ये सुला देनेवाले हैं, अत: अग्राह्य हैं तो यह वास्तव म एक अत्युक्ति हो जाएगी। हमारा संघर्ष जितना बाह्य है उतना ही अंतस्थ भी है। हमारे भौतिक व हमारे अंतस् का निर्माण हुआ करता है तभी परिस्थिति बदल जाने पर विचारों म परिवर्तन भी आया करता है किंतु पुराने विचार परिस्थिति बदलते ही नहीं बदल जाया करते। उनका प्रभाव धीरे धीरे ही जाता है बल्कि हम यह सकते हैं कि उनका तो विकास हुआ करता है। भारतीय चिंतन में नारी के अंतस् की कोमलता की स्वीकृति हमारे मध्यकालीन साहित्य में वैष्णव चिंतन के माध्यम से प्रविष्ट हुई। वह बौद्ध और सहजयानी सिद्धों तथा नाथों में नहीं है किन्तु कबीर में है और परवर्तीकाल मे तो है ही। सीमा और असीमा का द्वन्द्व वास्तव में बाह्य और अंतस् का उचित संतुलन बिठाने का ही प्रयत्न रहा है क्योंकि जब तक सामंजस्य उपस्थित नहीं होता विकास के पथ म गतिरोध उत्पन्न होता है। यही हमारे रागात्मक जीवन का प्राचीन प्रभावगत चेतस चिन्तन से संघर्ष है जिसम अब रागपरकता की ओर अधिक उन्मुखता होती जा रही है।

कोकिल ने पगली-सी होकर
स्नेह गान गाया कैसा ?
अलसाई-सी अरुण उषा मे
मधुर राग छाया कैसा ?
मेरी हृदय विपञ्ची के क्यों
कंपित कंपित तार हुए ?
यह क्या, यह क्या आज शूल भी
सरस सुमन सुकुमार हुए ?
वह आता है वह आता है,
ध्वनि अंतर में आती है
सहसा सिहरा सा तन होता
छाती फूली आती है

मैं उन्मुक्त बनूँगी
जीवन-साध आज पूरी होगी,
आकर मुझको आलिंगन में
बाँधेगा वह रसयोगी।
मेरे गीत सजग हो जाओ
पहन कल्पना के परिधान
आज आ रहे हैं चिर निष्ठुर
मेरे प्रिय, मेरे भगवान !

—ईश्वरलाल शर्मा रत्नाकर

ध्यान रहे यह रागपरकता है इसे भोगपरकता नहीं कहना चाहिए। भोग की प्रवृत्ति सामन्तीय समाज की देन थी इसीलिए उसे निरन्तर बन्धन ही माना जाता है। रसयोगी के लिए उसकी पुकार रस और योग को साथ-साथ बाँध लेती है। 'यही रस है, महा रस है' पुकारनेवाले ऋषि ने रस का प्रयोग आनन्द की अभिव्यक्ति में किया था या रस का तात्पर्य उसके मत में केवल 'जीवन-सरस' था यह अभी निर्विवाद सिद्ध नहीं हुआ है, और इसका निर्णय देना भी बहुत कठिन है। नये काव्य में प्राचीन रूपकों को छोड़ा नहीं गया है। इसे हम प्रतिक्रियावादी स्वर नहीं कह सकते क्योंकि वेदान्त और वैष्णव चिन्तन भारतीय सहिष्णुता और प्रेम के दो प्रमुख मानववादी स्वर रहे हैं, ऐसे हैं ये दोनों जो आज के विषण्ण युग के चिन्तन में भी दलित मानव को अपने मूल में छिपे आनन्द से स्फुरित करने की आत्मिक शक्ति रखते हैं। उनके द्वारा एक नये दिव्य जीवन का अनाहत निनाद-सा सुनाई देता है

प्रियतम, मम रोम रोम, रन्ध्र रन्ध्र स्वनित आज
मेरी चेतन-वीणा है गुञ्जित, क्वणित आज
रन्ध्र-रन्ध्र स्वनित आज।

सहसा मिल गये आज मेरे सब तार-तार
गूँजी झंकार, मधुर उमगी मधु गान-धार
आज पूर्ण हुआ प्राण, जीवन का स्वर-सिंगार
आरोहण अवरोहण ध्वनि, लय, सब ध्वनित आज
रोम-रोम स्वनित आज।

वीणा के ककुभ[1] बने ये वर्तुल बेणकाल
मेरा अस्तित्व बना इसका रसमय प्रवाल[2]

---

१ वीणा की तूँबी—एक ऊपर एक नीचे
२ ग्रीवा-दण्ड

प्रतिक्षण हिम का स्पंदन देता है नियति ताल
अनिल अनल जल थल-नभ झलक उठे स्वर-समाज।
रोम रोम स्वनित आज।

गूंजी चेतन-वीणा, प्रकृति-नटी नाच उठी
सूने दिक्काल झुके, सिरजन की आँच उठी
अपनी इतिहास-कथा सकल सृष्टि लाँघ उठी
अणु अणु में, किरणों में रहे मधुर स्वर विराज।
रोम रोम स्वनित आज।

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

यह आनन्द की भावना नवीन है और हम अन्यत्र शायद ही मिले। नवीन ने इसमें अपने प्राणों को उंडेला है और इसीलिए इस गीत के शब्दों में जो ध्वन्यात्मकता है वह इसके शब्दों से निकलते स्वरों से उसके आरोहण अवरोहण से अपना मिलन करती हुई चलती है। आधुनिक काव्य में शब्द ध्वनि के प्रति विशेष आकर्षण है, किन्तु वह सदैव दुरूह हो गई हो ऐसा नहीं कहना चाहिए। अपने मन में किसी प्रकार का भी पूर्वाग्रह रख लेने पर हम आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते। आनन्द की जिस चेतना में 'नवीन' ने दिक् और काल को झुकाया है वही तो रोम रोम को स्वनित करने की सामर्थ्य रखती है।

नारी भावना की शुचिता उसकी लज्जा के कारण अभी तक अधिक प्रभावोत्पादक मानी जाती रही है। मुग्ध वासना का गलित पुण्य अब अतीत की शोभा हो गया है। अब तो हम डिम डिम करते बादलों में धड़कती धमनियों का संवेग दिखाई देता है

प्राण मुझे तुमने दिया
मैं प्राण तुमको दे रही हूँ।
व्योम की इस क्षितिज रेखा से अटल विश्वास सपल
ढालती मैं थी निशा में भर पलक में स्वप्न का जल
क्यों न मेरे ज्वलित अधरों को बुझाती अमृतधारा
मन मुझे तुमने दिया, मैं मान तुमको दे रही हूँ
मधु तुम देते मुझे मैं प्यास तुमको दे रही हूँ
आग देते तुम मुझे मैं अर्घ्य तुमको दे रही हूँ
दे दिये पाषाण, मैं भगवान तुमको दे रही हूँ
तम मुझे तुमने दिया, आलोक तुमको दे रही हूँ
याद में तो दिन निकलता रात आँखों में घुला सी
तुम हठीले हो अगर तो आज हूँ मैं भी निराली

अंक में भर प्रणय-परिमल ले हृदय में एक आशा
शाप तुमने दे दिये वरदान तुमको दे रही हूँ
—कुमारी राजरानी शिवपुरी

'तुमने तो पाषाण दिया पर मैं तो भगवान दे रही हूँ' कहकर राजरानी शिवपुरी ने एक नया दृष्टिकोण उभारा है वह समस्या के पास नये ढंग से ही पहुँचती है। यह स्पष्ट कर देता है कि प्रेम का यह संघर्ष जो कि अपनी अभिव्यक्ति को स्पष्ट न करके एक मर्मान्ति की दुरूहता में उलझ जाना चाहता है वह वास्तव में लौकिक ही है बल्कि उसमें प्रेमी हृदय को यह भी विश्वास है कि अनगढ़ की शिल्प की साधना से परमात्मा नहीं बनाया जा सकता उसे तो आत्मसमर्पण की आवश्यकता है, और वह बड़ी विभोर आसक्ति से ही जन्म लेती है। यौवन के आँगन में खड़ी यह बाला शाप के बदले में वरदान देने की आकांक्षा रखती है। क्यों? क्योंकि उसने संस्कृति के अनेक स्पंदनों में यह अनुभव किया है कि मूलतः दान ही श्रेय का आधार है, वह प्रतिदान चाहता नहीं है। पत्थर देनेवाला तो वास्तव में शाप देता नहीं भगवान बनानेवाला मन ही वरदान देता हो। फिर भी अपने संयम को उजागर करने में क्या वह मानिनी छोड़कर अपने मन की ठेस से आहत होकर इतना भी नहीं कहेगी। इसके अतिरिक्त वह उनमें तो नहीं जो एकपक्षीय प्रेम लिए जी रहे हैं

तुम मुझे जानो न जानो
मैं तुम्हें पहचानती हूँ।
आज शूलों की डगर में
फूल फिर खिलने लगे हैं।
तुम इसे मानो न मानो
मैं इसे सुख मानती हूँ।
दूर से हो भर रहे हो
लालिमा अनुराग की तुम
तुम इसे जानो न जानो
मैं इसे निधि जानती हूँ।
कर दिया तुमने अचानक
हृदय मेरा फिर प्रकाशित
तुम मुझे मानो न मानो
मैं तुम्हें प्रिय मानती हूँ।
—कुमारी सत्य

यह दूरी है। बीच में एक नहीं अनेक मंज़िलों का फासला है। फारसी कविता में तो ऐसे भाव बहुत मिलते हैं। किन्तु इसमें जो एक अपनी लघुता की सत्ता स्वीकृति का भाव है वह नितांत मौलिक है और भारतीय चिन्तन के अनुरूप ही है।

अपरिचय का नया प्रश्न है

> डूब जावे नाव तो कुछ दुख न होगा
> किन्तु इतना जान लूं तूफान क्या है?
> है किनारे की न कुछ परवाह मुझको
> किन्तु इस मंझधार की पहचान क्या है?
>
> —कुमारी राज

यहां हम जीवन की गहराई में जान की जिज्ञासा प्राप्त होती है। परन्तु अन्यत्र तो परिचय हो चुका है

> पहुंचूंगी जब द्वार तुम्हारे
> लौट रहा होगा, समेटकर पंख, दिवस-पंछी मन मारे।
>
> ×
>
> देख तुम्हारे गतिमय रथ को दौड़ूंगी मैं व्याकुल होकर
> पर न कंठ-स्वर फूट सकेंगे, रह जाऊंगी तुममें खोकर।
>
> —सुमित्रा कुमारी सिन्हा

दिवस के पंछी का पंख समेटकर, मन मारकर लौटना—संध्या का विषाद वर्णन एक ही पंक्ति में उपस्थित कर देता है। अभिव्यंजना के ये वैविध्य नयी कविता में विशेष रूप से उभर आए हैं। जिस प्रकार रीतिकालीन कविता में वाह्य वर्णन की गहराइयों में कवि उतरते थे और बड़ी कारीगरी से एक-एक चीज का वर्णन करते थे, उसी भांति नयी कविता में मन के विविध रूपों का उसकी अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। यह युग के परिवर्तन का ही प्रभाव है। और यह परिवर्तन इतनी जल्दी हो गया है कि कभी-कभी पुराने लोग उसे समझते नहीं। इसका कारण है कि वे उसे 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' में खोजते हैं जबकि 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' का आधार उसमें बहुत ही कम लिया गया है। वह अधिक अस्पष्ट इसीलिए दीख पड़ती है कि उसे अस्पष्ट करके लिया जाता है।

यदि हम उसका वास्तविक रूप में देखें तो हमें अधिक स्वात्मानुभूति मिलती है

> तुम कन-कन मुझे मिटाते थे, मैं मिट मिट जाती पास रही
> तुम जल जल मुझे बुझाते थे, मैं बुझ-बुझ किये प्रकाश रही।
>
> ×
>
> मैंने गाये थे गीत सभी जग के दुख-दर्द मिटाने को
> अब तो गा-गाकर खोल रही मैं अपना ही दिल बहलाना।
>
> —कुमारी चंद्ररेखा वर्मा

विरह की वेदना का अर्थ यहां समझ लिया है तभी कवयित्री अपने दुःख को मिटाने की बात करती है। किन्तु यह क्या सचमुच दोनों में भेद कर सकती है?

अब जाग्रत बीन की सिमटी झनक-सी अनमनी हूँ
ढूँढ़न निकली कहाँ ढूँढ़ूँ मगर मैं छोर मन का
है बिखरता पर न गिरता क्यों कगारा खिन्न मन का
राज तन-मन से अलग अपनी उदासी का न पाती
दीप से ज्यों स्नेह से जैसे विलग होती न बाती
है मुझे बे-स्वाद अपने स्वप्न की मनुहार विह्वल
उड़ न पाता साथ जिसके यह उमसता मन अचंचल
आज अपने पर बड़ी गमगीर असी मैं तनी हूँ

—अंचल

अंचल की इस कविता में दोनों वेदनाओं का सामंजस्य हमें प्राप्त होता है। अंचल की कविताओं में एक कसक हुआ करती है उस समय जबकि वह मन की बात लिखता है उस समय नहीं या कम जब वह युगपरकता के चक्कर में लिखने को कुछ मजबूर-सा हो जाता है। अंचल की शब्दावली में एक लालित्य है जो न नरेन्द्र में है, न बच्चन में। वैसे उनके अपने गुण अलग हैं जिनपर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे। अंचल को मांसलवादी कहा गया है किन्तु मांसलता वास्तव में छायावाद के सूक्ष्मवाद के प्रति विद्रोह है। आरम्भ में यह विद्रोह बनकर आया था। यह हमें अन्यत्र भी मिलता है भले ही उसके रूप में कुछ परिवर्तन रहा हो। रीतिकाल का देहवाद इस मांसलवाद से मूलतः अलग है क्योंकि वह इसकी भाँति समाज की रूढ़ियों पर प्रहार करनेवाला नहीं था जैसा यह है

आज न सोने दूँगी बालम
मेरे अधिक निदारे बालम!
अब निशा है, घिरी अँधेरी डगर-डगर निशि गूँज रही है
चंचल हैं तारे अंचल मन अग जग मदिरा छलक रही है
यौवन सरिता उमड़ पड़ी है
मधु की बेला आई बालम!
आज अभी से सो जाओगे अभी नहीं सोए हैं तारे
उत्सुक हैं सब सुमन सेज के केवल तुम्हीं अधिक निदारे
खोलो लोचन प्राण पियारे
मानो बलि-बलि जाऊँ बालम!
कलि-कलि के मुकुलित सपने से घिर आए सौरभ के बादल
छाए कुसुम-मधुप के चुंबन वल्लरियों की रति-गति चंचल
तरुओं के आलिंगन विह्वल
मानो आज हठीले बालम!

हरसिंगार जो झर झर झरते कुसुम राशि से सेज मनोहर
सौरभ की नन्हीं बूँदों से फूल गिराते पुलकित तन पर
रग रग में कुछ अकुलाहट भर
पुलक-पुलक कर आकुल बालम !
आज विश्व से छीन तुम्हें प्रिय, निज वक्षस्थल में भर लूंगी
मृदुल गोल गोरी बाँहों में कंपित प्राणों में कस लूंगी
फलों के तन में भर लूंगी
अलि से रंग निखारे बालम।

—नरेन्द्र

नरेन्द्र की यह कविता अत्यन्त प्रसिद्ध हुई, क्योंकि इसमें लोगों को बहुत दिनों के बाद प्रेम का एक सजीव चित्र मिला। हमारी परम्पराओं में न जाने कितने स्वर बिलमाए हुए हैं। उनके बीज न जाने किस रूप में अंकुरित हो उठते हैं यह कोई नहीं बता सकता। यहां कोई परकीया का प्रेम नहीं यहां स्वकीया की छुईमुई का लाज भरा वातावरण नहीं। स्त्री की वासना की स्वीकृति और उसको समाज में स्वस्थ स्थान प्रदान किया गया है और भले ही यह अनजाने हुआ किन्तु स्त्री भावना को प्रमुखता अवश्य ही प्राप्त हुई। इसी भाव को जब एक स्त्री प्रकट करती है तब वह कल्पना की बांहों का आलिंगन प्रकट करती है यद्यपि कल्पना की भुजाओं का आलिंगन तो हमारे यहां कालिदास के युग से चलता चला आ रहा है। वेदना और मिलन इन दोनों का भेद यहां नया रूप रखता है

तुम्हें कल्पना की बाँहों में
पुलकित हहर-हहर भर लूँगी
मेरे देव ! तुम्हारी निधियाँ
तुमको ही अर्पित कर दूँगी
मैं सुंदर सुधियों, सपनों में
हँस हँसकर अभिसार करूंगी।
प्रिय, पीड़ा है देन तुम्हारी
मैं पीड़ा को प्यार करूंगी।
पीड़ा से मेरे प्राणों की
सीमा का विस्तार हुआ है
पीड़ा में तुम मिले मुझे जब
पीड़ित जन से प्यार हुआ है,
मैं अपनी सीमा में बाँधी
यह सारा संसार करूंगी।

—श्यामकुमारी सिंह

सयोग की विप्रलभ म अनुभूति विरह की एक विशेष दशा म प्रारम्भ होती है। उस समय व्यक्ति अपने आपको खो देता है। तभी तो हम 'हहर-हहर' का परिचय मिलता है जिसम विभोरता ही अपनेको सबसे अधिक मुखर करती है। देव प्रियतम है। वह वस परमात्मा भी है। किन्तु हमारा भारतीय परमात्मा हमारे सुन्दरतर की सुन्दरतम अभिव्यक्ति का पर्याय-मात्र है। जब उसे सगुण रूप म नही लिया जाता, जब उसे अवतारो से अलग करके देखा जाता है तब वह कबीरवाला दुलहिनो का दूल्हा बन जाता है। किन्तु छायावाद का प्रिय कबीर के प्रिय की भूमि की पूव पीठिका रखकर भी वास्तव म अलग ही था। परवर्तीकाल म तो वह एक कविसत्य बन गया। समवत इस परिभाषा से कुछ लोग विरोध करें किन्तु इतना याद रखना आवश्यक है, यह कविसत्य होकर भी कोई विकृति का रगस्थल नही बना। सुन्दर कहकर किसीको पूज्य बनाना और फिर प्रम करना क्या दोषारोपण का स्थल बन सकता है? वह सूर की राधा की विह्वलता तो नही रखता, किन्तु उसमे 'पीड़ित जन से प्यार' तो अवश्य पैदा हुआ है। हरिऔध की राधा मे यह परदु खकातरता हमने देखी है यह जायसी म भी थी किन्तु नये युग की प्रियतमा शरीर को न तो भूलती है न अपने को भोग-साधन का माध्यम-मात्र समझती है। वह सहज है प्रकृति म अपना स्थान को जानती है अविकृत है और फिर उसे अपने मानवी होने की चेतना का आभास भी प्राप्त हो चुका है। यही नहीं अपनी अभिव्यक्ति म स्वय पुरुष ने भी यही कहा है

मैं नहीं बोली कि वे बोला किये
हृदय में वेधन मुख मोला किये
वे हृदय ले तौल पर तौला किये।
युगड़ मम पर गव को तौला किये।
झूलती प्रभु बोल का डोला किये।
आज चुबन का प्रलोभन
स्नेह की आसो म डालो
नहीं मुझ पर छोड़ने को
प्रम की नागिन निकालो
सजनि मेरे प्राण का झोला किये।
डालते थे प्यार को वे क्रोध का गोला किये।
समय सूली-सा टँगा था
बोल खूँटो से लगे थे
मरण का त्यौहार था सखि
भाग जीवन-धन जगे थे
रूप के अभिमान में जी का जहर घोला किये।

—माखनलाल चतुर्वेदी

मन पर गव तो तोला परन्तु साधना तो विचलित नहीं हुई। केवल देह ने समर्पण नहीं किया प्रेम के त्रिप ने सब कुछ फूक दिया मान के बंधन अपने-आप ही बंध गए। समय रुक गया मानो वह विरोध में आ गया। क्यों नहीं आता वह? वह तो अपनी चपेट म सब-कुछ लिए जाता है और यहा उसको निबल बना दिया गया, क्योंकि यहाँ क्षण की गहराई ने सब-कुछ माप दिया। मृत्यु का भय जाता रहा। यदि कोई व्यवधान था तो यह कि तन्मयता की पूर्णता म अभी बाहरी आसक्ति की बाधा शेष रह गई थी। किन्तु उसमें भी बुराई क्या थी? रूप की अनुभूति तो सुन्दर की अनुभूति थी। उसमें दोष था अवश्य वह यह कि उसका अभिमान हो गया। अभिमान तो रुकावट पदा करता है।

किन्तु व्यवधान से भी आगे की अथ इति अब हमें यहां मिलती है, जहां प्रम अपने को किसीपर निभर नहीं रखता जहां एक पक्ष का आश्रय अपने लिए आलबन की और अपेक्षा नहीं करता, स्वय ही समथ हो जाता है

सखि, उनको पाषाण म कहना
इन चचल नयनों से छिपकर
वह मेरे मन में रहते हैं
मेरी सिसकी मेरी आहें
सब चुपके-चुपके सहते हैं
तुम मेरे नयनों से छिपने को उनका अभिमान म कहना।
वह मेरे नयनों की उज्ज्वल
एक बूंद से करुण सजल हैं
वह मेरे प्राणों के झिलमिल
दीपक-से सस्नेह विकल हैं
तुम मेरे प्राणों में रहने वाले को निष्प्राण न कहना।
वह मेरी आशा-से भोले
वह अभिलाषा-से अल्हड़ हैं
वह मेरी आहों-से चंचल
वह मेरी साधों-से दृढ़ हैं
तुम मेरे प्रति मौरवता को उनका निष्ठुर मान म कहना।
वह मेरी पीड़ा-से मादक
वह मेरी सुधि-से कोमल हैं
वह मेरे सपनों-से सुन्दर
वह मेरे मन-से निश्छल हैं
तुम मेरे सस्मृति के चिर पहचान को अनजान म कहना।

—कुसुम कुमारी मिश्र

यह तो सब-कुछ है, क्या फिर भी उन्हें हम अरूप कह सकते हैं ? छायावाद में इतनी शक्ति नहीं थी। वहां तो बहुत ज़ोर मारने पर कहा गया था कि हे देव ! तेरी छाया से ही मेरा मिलाप हो जाए। यह तो दूरी-दूरी का सवाल है। जितने हम मानसिक बंधनों को छोड़ते जाएंगे उतने ही समीप आते जाएंगे। यह जो अरूप की ओर उन्मुख कविताएं हैं, वे क्यों अच्छी लगती हैं ? क्योंकि वे स्वयं प्रत्येक के किसी रूप से तादात्म्य कर लेती हैं। दर्शन की गूढ़ ग्रंथियों को भी भारत में बड़ा स्पष्ट किया गया था और पौराणिक मूर्त-साहाय्य ने उसमें योग दिया है इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ! हमारे आलंबन तो बदलते जाते हैं। शून्य भीत्ति पर चित्र तो सोलहवीं शती में ही लिखे जाने प्रारंभ हो गए थे उनका यदि विकास होता भी गया तो क्या आश्चर्य ? कुमुदिनी जोशी ने तो वेदना को एकांगी नहीं रखा

जग का ऋण आज चुका दूंगी
द्युति के मिस जग न आग बसा
शलभों का भोला हृदय छला
झुलसा कोई, पर दीप हंसा
अब मैं हंस-हंस निज हाथों से
वह दीपक आज बुझा दूंगी।
गीतों में भर भर आंसू कण
जो पाये थे जग से क्षण-क्षण
वे गीले गान संजो स्वर में
लौटाऊंगी मैं अब सभी
पाहन को आज रुला दूंगी।

—कुमारी कुमुदिनी जोशी

जगत् का ऋण है, उसे चुकाना ही होगा। अभी तक तो लोक में ऐसी पद्धति अपनाई गई है कि आलोक करने को जलाई हुई अग्नि ने भोले हृदयों को बार-बार छला है। कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है जो हमारे समाज के विभिन्न रूपों पर एकसाथ प्रहार करती है। कवयित्री उस दीपक को हंस-हंसकर बुझाना चाहती है क्योंकि वह दीप असल में दूर की झिलमिल पैदा करके जलन ही भरता है। उस दीपक ने सदैव सबको भुलसाया है। उसने बड़े ऊंचे आदर्शों की छलना उत्पन्न की है, किन्तु एक बार भी उसने अपने को स्पर्श तक नहीं होने दिया। नयी चेतना अब जलन को अच्छा नहीं समझती। यहां करुणा है करुणा वह नहीं जो दुख के अभाव में मन बहलाव के लिए जन्म लेती है बल्कि वह जो कि स्नेह से गीली है जिसमें अश्रु हैं। अश्रु का नाता तो बड़ा गहरा होता है। यह सब वेदना-लोक न पैदा की है लोक के मंगल के लिए ही उसकी आवश्यकता भी है। तभी एक अतिशाहस मन में जागता है कि मैं पत्थर को रुला दूंगी। आज तक पत्थर न रुलाया है क्योंकि पत्थर से जितना प्रेम

किया गया है वह उसके लिए बहुत अधिक था। उसपर पूर्ण विश्वास ही तो श्रम को जलाता है। देवराज दिनेश की उदासीनता भावहीनता में इसीलिए परिवर्तित होते हुए दिखाई देती है कि उसमें उसीसे पूछा है कि वह क्या लिखे, जबकि लिखना भी उसीको है। दूरी का कोई अलगाव कैसे मिटेगा भला ?

क्या लिखूँ तुम ही बता दो
वेदना मेरी हिला दो
प्राण मेरे स्वप्न में था
    मीत मुस्काते नहीं हैं
    भाव कुछ आते नहीं हैं।
शांति सी छाई निलय में
स्तब्धता छाई हृदय में
आज हूँ मैं मौन, लोचन
    अश्रु भर लाते नहीं हैं।
है न जीवन-वाद्य में स्वर
अंगुलियाँ चलतीं ठहर कर
आज गायक था यहाँ पर
    गीत कुछ गाते नहीं हैं।

—देवराज दिनेश

अभी वेदना हिली जो नहीं है। जब वह हिल उठेगी तो फिर प्रश्न ही बाकी नहीं रहेगा। किन्तु फिर व्याकुलता भी तो नहीं है। जैसे लंबी मंजिल चलकर मन हार गया है। अब शांति-सी छा गई है। इस मौन को भंग नहीं होना है तभी आंसू भी नहीं आते किन्तु फिर जीवन इतना रिक्त क्यों हो गया है ?

यह अनासक्ति नहीं पराजय है। पराजय तो है परन्तु वह मन को कहीं न कहीं अवश्य कचोट उठती है। क्यों ? इसका उत्तर है कि यह वास्तव में शांति नहीं है। यह नये स्वरों की खोज है यह नये क्षितिज का अन्वेषण करने के पहले की निस्तब्धता है। इसका साहित्य में अपना महत्त्व है। इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

पुरुष की नारी भावना का तो अंत प्राप्त होता है किन्तु नारी में तो वह उसकी आत्मा का स्वर है। उसका अन्त हो कहाँ ? देह ही तो अपनी निर्माणाकृति के अनुरूप अपना विशेष चिंतन होता है उसे क्या सहज भुलाया जा सकता है ? नहीं। वह दिगंतर में एकरस है, वह अचेतन में स्पंदन है वह असंतुलित में सम्यक् का ही प्रकारांतर है। तभी हम रसधारा में एक नई तल्लीनता प्राप्त होती है

बरस रही सखि ! सावन की यह
रिमझिम रिमझिम मन्द फुहार
विहस पड़ी मेरी कवि-कलिका
पूरी कर अपनी मनुहार
डोल डोल कर मृदुल लताएं
वृक्षों से क्यों आज सहास ?
कम्पित-सस्मित मिलने दौड़ीं
परिरम्भण करने सोल्लास ?
सघन घनों के आंसू छलके
विद्युत् चमक पड़ी अभिराम
पीता जाता धरती का क्यों
आंचल अश्रु-कोष अविराम ?
धरती की यह अमिट पिपासा
यह अभिभूत हृदय की प्यास
किस दुख से यों बनी सखी री
चिर नूतन, चिर कसक, उदास ?

—हीराबेवी चतुर्वेदी

यह हृदय की, हारे हुए हृदय-मात्र की प्यास नहीं निकली न ? यह तो धरती की प्यास है। और वह भी अमिट प्यास ! धरती भी नारी है। यह वेदना नहीं है यह गति की कसमस है। इसीकी अपूर्ति उदासी लाती है कसक को जन्म देती है। वह चिरंतन है। वह सदैव रहेगी। वह उसका अपूर्व मातृत्व है जो उसके भीतर सदैव सन्निहित है। वह कभी उससे अलग नहीं होगा। यह सदैव स्मरण रखना होगा कि नारी प्रेयसी कभी नहीं होती। प्रिय का एकांगी दृष्टिकोण ही उसे प्रेयसी की अधूरी सज्ञा देता है। नारी का जीवन खण्डों में नहीं है वह तो बाल्यावस्था से ही निर्माण की ओर अपनी आस्था रखती है और इसीलिए उसने जीवन के कठोरतम आघातों को पुरुष से भी अधिक सफलता से सहन किया है

बस रहा पथ पर अजस्र जो
फिर जटिल-आसान कैसा !
भक्त औ' भगवान में फिर
शाप या वरदान कैसा !

×

मैं भुलाये भोर-सी हूँ
याद की मैं यामिनी हूँ
मैं पलक पर स्वप्न-सी
लेकिन हृदय की स्वामिनी हूँ
तुम रहो चाहे जहाँ पर
मैं गगन की चाँदनी हूँ
मैं तुम्हारी प्राण-बसी
मैं समाई रागिनी हूँ
फूल को रख धूल को ले
मैं बनाने मीत आई
आज कोरे पृष्ठ पर लिख
कर विदा के गीत लाई।

—चन्द्रमुखी ओभा सुधा

वह अपने को पुरुष से अलग कभी नहीं समझती। पहले तो लता के रूप में वह वृक्ष की ओर विभ्रम और लज्जा से आती है और फिर वह कहती है कि वह उसमें समा गई है। वह अपने को दासी नहीं समझती, क्योंकि हृदय की स्वामिनी होने का अभिमान उसे है, इसे वह अपना एकांत अधिकार समझती है। यह तो पथ है इसपर तो यात्रा हो रही है। न पथ के लिए पाथेय की आकांक्षा है न संबल की, फिर इसमें सुख-दुःख का प्रश्न ही क्या? भक्त और भगवान तो एक हैं। एक की श्रद्धा ही दूसरे को सहसा को प्रतिपादित करती है। स्वयं ही जब सुख का लोभ छोड़ दिया है और कष्ट सहने की शक्ति का उपार्जन कर लिया है, तब फिर डर क्या? जीवन का पृष्ठ अलिखित था। उसपर गीत तो विदा का लिख लिया है। तब मिलन की तृष्णा में पीछे कौन अपने को भुलाए भुलाए फिरे?

अंचल नहीं भुलाता, परन्तु उसकी वेदना उसे भुलाती है। अंचल का लालित्य चित्रों का सृजन नहीं करता बल्कि रंगों का सृजन करता है। उसके एक-एक रंग में जीवित-से कई-कई चित्र खड़े हो जाते हैं। जिस प्रकार अपने यहाँ चित्रों में, राग रागिनियाँ बाँधने के वर्णन किए गए हैं, उसी प्रकार उसमें भाव भी बड़े मर्मस्पर्शी चित्र बन सकते हैं। उसकी भूल पूछती है

कौन नूतन गीत गा मलयज समीरण को रिझाये
कौन चम्पक की सुनहली प्यालियों में रस पिलाये?
बोलती श्यामा—अँधेरे में विरह की पीर भरती
तुम न आये—गन्ध विह्वल फागुनी रजनी सिहरती

यह अनिद्रित चाँदनी कब तक निहारे पथ तुम्हारा
फुल्ल कुसुमित वनलताओं मे तुम्हें कितना पुकारा
तुम न आये बीतते जाते चले मधु के दिवस भी

—अचल

कितनी व्याकुल प्रतीक्षा है ! फागुनी गंध म सिहरती रजनी और फिर धीरे से कहना कि तुम न आए, मानो श्यामा की विरहिन पीर को सौगुना कर देती है। ऐसी तन्मयता हो तो भूलना क्या सहज है ?

लाज रक्तिम गात पीली ओढ़नी में कसमसाता
जाफ़रानी प्यार मन क रेशमी पद है उठाता
है रही जाती दबी झंकार नूपुर कंकणों की
है रही जाती रुकी मनुहार छवि के बंधनों की
उल्लसित पुलकित बकुल का कुंज सुधियों से जड़ा-सा
शून्यता के मंद मर्मर म शिथिल लिपटा पड़ा-सा
तुम न आये बीतते जाते, चले मधु के दिवस भी

—अचल

प्रमी की चपलता स्थिर हो गई है क्योंकि प्रमिका की मनुहार क्या है वहाँ तो छवि के बधनों की मनुहार ही रुक गई है ! जिन नूपुर-कंकणों म मुखरित उल्लास था वे आज चुप हो गए हैं। शून्यता का मद-ममर कानों मे धीमी-धीमी आवाज करता है शिथिल करता है अपने में लपेट लेता है। सारा मधु ही जो बीता जा रहा है। प्यार जाफरानी है मन के पद रेशमी हैं। गात कसमसाता है। यह यदि मांसलवाद के नाम पर अस्पृश्य है तो इतना सुन्दर वर्णन भी दुलभ है। पहले जाकर कविकुलगुरु कालिदास का कुमारसम्भव फाड़ दो, फिर इस कविता को बुरा कहना अवश्य सगत हो जाएगा। नवीन सस्कृत के सौंदय ने कहा है कि मनुष्य के जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति म मरा भी अपना स्थान है। मैं विद्रोही हू किन्तु मैं चित् ही नहीं रज भी हू। मैं ही हू जो कि वेदना की अनुभूति बनकर उपस्थित हुआ करता हू

वेदना के नयन गीले।

नभ निविर में गुजती उल्लास की उर्मिल विहागरि,
अप्सरा की वेणियों में गूँथती तारक विभावरि।
क्षितिज को छू-छू थिरकते चंद्रिका के हाथ पीले।
दूर नीलम के कगारे पर अलस है शिशु सवेरा,
सुप्त है वन निखिल ममर मुकुलिका का प्राण डेरा।
मत्त मधुपों के अधर पर सो गये हैं स्वर नशीले।
रश्मि के कलधौत मण्डल पर थिरकतीं उर्मियाएँ,
गगन पथ पर पग सम्हल कर रख रहीं नर्तित कलाएं।

ज्योति की मृदु अगना के मलय चर्चित अलक डोले।
जागरण की सुप्ति में ही हास अश्रु विषाद नश्वर,
ऐन्द्रजालिक मूर्च्छना में वेदना भी काम तत्पर।
नियति की जादू-छड़ी छू बज रहे नित स्वर सुरीले।
वेदना के नयन गीले।

—शकुन्तला शर्मा

वेदना ही प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करती है। वही हमें अत्यंत सजीव रूपों की झलक दिखाती है। शकुन्तला शर्मा का प्रकृति चित्रण मन के नयनों में से दिखाई देता है और यद्यपि यह वेदना से भीगे नयनों मे प्रतिबिंबित होता है किंतु हम इसमें सम्मोहन देखते हैं इसमें पीड़ा नहीं मिलती। चाँदनी के हाथ क्षितिज को छूने लगते हैं। नीलम के कगारे पर दूर कहीं सवेरा शिशु की भाँति अबोध और कोमल सा सो रहा है। वन सोया हुआ है किंतु सब ओर एक लुभावना मर्मर सुनाई दे रहा है। गीत नशीले गीत भौंरों के होंठों पर ही सो गए हैं, जैसे वे उनींदें-उनींदे-से ऊँघ गए हों। जागरण में हास है सुप्ति में अश्रु-विषाद है परन्तु हैं ये दोनों ही नश्वर। ऐसा लगता है एक जादू-सा छा रहा है और उस जादू में भी वेदना अपना काम करती जा रही है। नियति की जादू छड़ी छूने के कारण ही एक मीठा संगीत उठ रहा है। यह है वेदना जो सबको अपनी अनवरत गति में देख रही है। यहाँ नियति वह नहीं जो हताश करती है यहाँ नियति प्रकृति का नियम है क्योंकि हताशा में सौन्दर्य का सृजन नहीं हुआ करता। वेदना तो मन की वस्तु है वह दूसरों की रूपश्री का यहाँ हरण नहीं करती। किन्तु यही वेदना जब सबल हो उठती है तब हृदय पुकारता है

ले जा अपनी याद लिये जा!
जाने वाले साथ सिसकते अंगों की फरियाद लिये जा,
ले जा अपनी याद लिये जा!
जीवन भर बेचैन हृदय पर उठ आरे-सी चलने वाली
जीवन भर गलाते पारे-सी तन पर, मन पर ढलने वाली
रोम रोम में रख देती जो बिजली की ज्वलित चिनगारी
नस नस में फूँका करती जो अति असह्य झंकार तुम्हारी
अपनी प्रतिहिंसक सुधि का प्रतिशोधी वन्य निनाद लिये जा
ले जा अपनी याद लिये जा।

—अंचल

याद को वापस करनेवाला हृदय न जाने कितने विषाद की घड़ियों को गिन गिन कर अब घबरा उठा है। क्या सचमुच वह उसे लौटाना चाहता है? नहीं। यह तो लगाव है और लगाव बोल रहा है। दर्द की इन्तहा भी तो है। दिल पर आरा चल रहा है। समाज की विषमता का हरण प्रेम की निष्पक्षता का हरण तो नहीं कर देगा।

भले ही उसका रूप बदल जाए, परिस्थितियां बदल जाएं। मैंने कहा था अचल में चित्रों के रंग हैं। गलता पारा जब आरे के बाद दीखता है तब क्या उसकी चमक से क्षण भर को आंखें नहीं मुंद जाती ? रोम रोम में वह याद बिजली की-सी ज्वलन चिनगारी रख देती है। कालिदास ने बिजली का वर्णन किया है— विद्युद्दामस्फुरित चकित इत्यादि जिसमें पलटकर कौंधती बिजली की झाईं-सी झमक जाती है और वही हम अचल में कौंधियाती मिलती है। झनकार का फूंका जाना प्रकट करता है कि ये नमें किसी बंशी से कम नहीं क्योंकि वही तो स्वर को अपने भीतर प्रतिध्वनित करने की शक्ति रखती है। जो पहले ही कट चुकी है जिसकी लालसा की अपनी अंतर्मुक्ति प्रिय को भतना में समर्पित होने में हो चुकी है वही तो बंशी बन गया है।

> अश्रु अंकित सपनों से मंडित कोई कातर स्वर न सुनूं मैं
> किसी अकुंठित अभिमानी मन का रीता मर्मर न गुनूं मैं
> सुंदरता की आग लगा देनेवाली ममता न बुनूं मैं
> छलक रहो लावण्य और यौवन की वे झलकें न चुनूं मैं
> ले जा अपने साथ असह विह्वलता के संवाद लिए जा
> ले जा अपनी याद लिए जा !

—अंचल

यह तो नया विकास है। रूप की उस मादकता का प्रतिरोध है जो कि आकर मद रास्ता रोकने लगी है। अभिमानी का कंठा नहीं होनी चाहिए। सुन्दरता यदि आग लगाती है तो उसकी ममता को मैं क्यों बुनूं ? मैं तो निरावरण ही भला हूं। लावण्य और यौवन की वे झलकें मैं क्यों बैठकर धीरे धीरे चुनूं जो मुझे सताती हैं। असह्य विह्वलता मुझे नहीं चाहिए।

> मन की गंगा की धारा में पूजा के वे फूल बहें मत
> व्याकुल काली-काली आंखों के पुरनम संकेत कहें मत
> मेरी आकांक्षा की कलियां अवसादी हिमपात सहें मत
> मेरी भूख-प्यास के गान मेरे दिल के पास रहें मत
> तू जा तो अपने विद्रोह का अंगीभूत विषाद लिए जा
> ले जा अपनी याद लिए जा !
> जीवन व्यापी तृष्णा औ' आकुलता की बुनियाद लिए जा
> —ले जा अपनी याद लिए जा !

—अंचल

पूजा के फूलों को बहने मत दे। तू जा मन ही जा परन्तु तेरे विद्रोह का जो अंगीभूत विषाद है विषाद तो उसका अंग ही हो गया है एक शब्द अंगीभूत में कितनी शक्ति है, वह जोकि भीतर रस बनकर रम गया है ! वह भी मुझे नहीं चाहिए। वास्तव में यह कातरता तो यों है कि जीवनव्यापी तृष्णा और आकुलता की बुनियाद

तेरी याद में है। उसे मैं क्यों रखूं ? शेली ने लिखा भी है कि हे प्रेम ! तू सबल हृदय को पहले छोड़ जाता है फिर निर्बल हृदय को क्यों झकझोरा करता है ! एक दिन ऐसा आएगा जब हे प्रेम ! तुझे अपना हर एक नीड़ उजड़ा हुआ मिलेगा !

अचल की तड़प हिन्दी में तो अपूर्व है। ऐसा लगता है कि कवि विशेष अवस्थाओं में अपने-आपको भूल जाता है। यदि हम कवि की वास्तविकता न देखकर अपनेको उसपर लादें तो क्या हम उसे पहचान सकते हैं ? नहीं। हमें तो उसके वेदना पक्ष को देखना ही होगा। अज्ञेय कहता है।

विफले ! विश्वछन्त्र में खो जा !
पुञ्जीभूते ! प्रणयवेदने !
आज विस्मृता हो जा !
क्या है प्रेम ? घनीभूता
इच्छाओं की ज्वाला है !
क्या है विरह ? प्रेम की बुझती
राख भरा प्याला है !
तू ! जाने किस किस के जीवन
विच्छेदों की पीड़ा—
मम के कोने कोने में छा
तीव्र व्यथा का खो जा !

×

मेरी हृदय की तृषित हूक !
उन्मत्त वासना हाला
क्यों उठती है सिहर सिहर,
आ, मम प्राणों में सो जा !

—अज्ञेय

अज्ञेय उसे प्राणों में ही सुलाता है परन्तु क्यों ? क्योंकि विश्व का क्षेत्र बहुत विशद है उसमें लय हो जाना ही उदात्त भावना है

है प्रेम जहां सात्विक, अक्षय
वह मिलता ही है उसे धन्य
×
बँध गया प्रेम धागे में मन
वह बसा प्रभावित शुचि जीवन।

—शकुन्तलाकुमारी 'रेणु'

जीवन प्रेम ही से पवित्र होता है। हम नये काव्य में सत्य को देखते हैं किन्तु शिव और सुन्दर को क्या भुलाया जा सकता है ! यह सत्य है कि इन अभिव्यक्तियों

म छायावादी शैली का असर अभी तक बना हुआ है और इसीलिए साधारण पाठक कभी-कभी इनको समझने में अटक जाता है किंतु यदि ध्यान से देखा जाए तो नई कविता जो संक्रांतिकालीन है वह अपने सामूहिक प्रभावों म बड़ा सशक्त है। और उसकी शक्ति का कारण है उसकी मुखरता। दीवानी तो मीरा भी थी परन्तु मीरा का प्रेम एक विशेष तन्मयता का था जिसमें मीरा की विद्रोहिणी नारी ने बंधन तो तोड़े थ, परन्तु उसका समाज शक्ति नहीं थी। अब नया युग कह रहा है

मैंने आंसू से कितने दीप जलाये,
तुम क्या जानो
पथ गिन-गिन पथ निहारा
नयनों के दीप जलाकर
मन की सिसकी आशा से
नव बन्दनवार सजाकर
मैंने जाग-जाग कर कितने कल्प बिताये
तुम क्या जानो

तुमने समझा नादुक हूं
अल्हड़ हूं मोहमयी भी
बिन कारण हम रो देती
नभ की स्वप्नमयी-सी
इन सपनों में कितने अवसाद छिपाये
तुम क्या जानो

—कुन्तकुमारी मिश्रा

कितनी वेदना तो यह नारी का हृदय पी चुका है। नयी पीढ़ी को नया संदेश चाहिए और उसकी भूमिका अभी स तैयार भी होने लगी है तभी तो कुसुमकुमारी अग्रवाल कहती है कि

'तुम इतना प्यार न करना कि किसीका मौन बरबस बोल उठे। विस्मृति की सुधियां तड़पा दें और अपना सब कुछ पराया लगने लगे। हिमगिरि तो बूंद-बूंद हो जाए पिघलकर, मनुहारें मान करती रहें किसीका गर्व बलि-बलि जाए।'

अंत में हम कह सकते हैं कि नारी भावना मूलतः प्रेम क आधार पर ही जीवित है और उसने हृदय की कोमलता क जिस पक्ष को लिया है वह रूप-सृजन करने में समर्थ हुई है। यह सत्य है कि इनमें कहीं-कहीं पलायन के स्वर उठे हैं, रहस्यवादी दृष्टान्तों का प्रयोग हुआ है, किंतु वह छायावाद की विरासत भी तो है और है उसपर समाज के प्रतिबंधों की छाया। वही गहरी गहरी शृंखला थी। उसके तोड़ने की लड़ाई पर बड़ा गहरा निशान छोड़ा है। किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि नयी दिशा म नारी

को स्वाधिकार के प्रति जागरित करके भी उस विकृत कटुता और पुरुष विरोधी अहंकार नहीं दिया है। नारी असामाजिक नहीं बनी है। उसमें वर्गचेतना के कारण अभी ऊंच नीच का भेद भी अधिक नहीं जमा है। सारांश में, वह काफी सीमा तक संवेदनशील है और पीड़ा के नाते उसमें अभी तक काफी सहनशीलता विद्यमान है। उसके पास जो कुछ है वह उसपर गर्व करती है अपने को असहाय नहीं समझती साफ नारी चाहती है, पर अपने को खोकर नहीं

चुकाओ प्राण न इसका मोल
 नयन का खारा है यह नीर !
बताओ लोगे क्या उपहार
 न लूंगी कंचन का संसार
नहीं चाहों का मोहक हार
 भला बदले में लेकर प्यार
लुटाऊं क्यों मैं कोष अमोल
 पचाऊं क्यों मैं इसकी पीर !
 जलधि का जल होता है क्षार
 नहीं है पावन मीठी धार
 अपावन खारी सिन्धु अपार
 सँभाले सरिताओं का भार
छिपाये निज निधियाँ अनमोल
 सँभाले पीर गहन गम्भीर
 इसे ढल-ढल होने दो क्षार
 छिपाये सारी पीड़ा भार
 जुटेगी जब यह खारी धार
 बनेगा उर तब पारावार
ढलेंगे मोती अति अनमोल
 अभी मत होना प्राण अधीर !

—कमला चौधरी

अभी प्राण अधीर कैसे होंगे ? नारी को अपने नयनों के नीर पर जितना विश्वास है जितना अभिमान है, उतना किसको होगा ! पुरुष भले ही स्त्री के अश्रु को दयनीयता कहे—'और आंखों में पानी', परन्तु स्त्री तो उसे अपनी आग में तपने की साधना ही मानती रही है उसे क्या इससे रोका जा सकता है ?

यह रूप ज्योति तुम वेरा नहीं क्यों पाते हो?
आनन्द निमग्न प्राणों का कण कण बिखरा।
तुम चिता के अंगार लिये क्यों बैठे हो?
सांसों की मीठी घातें बीती जाती हैं।

×

तुम रोष अनल की ज्वाल जलाये बैठे हो।
यम के ऋतु की बरसातें बीती जाती हैं।
कुण्ठाएँ जग की अन्तहीन, है अकथ व्यथा
संघर्षों का तूफान भयंकर आता है
पर क्षणिक हास से क्यों न लपेटो दिवस रात
आत्मा का स्वर प्लावन अवसाद डुबाता है
तुम निरानन्द क्यों अतरास में मग्न हो?
पुलकन की गौरव बातें बीती जाती हैं।

—सुमित्राकुमारी सिन्हा

पुरुष का चिरन्तन प्रयत्न रहा है कि वह अपने व्यक्ति की अहंमरी मान्यता या अनाग में ही निर्माण करे। यद्यपि यह उसकी चेष्टा रही है परन्तु प्रकृति की सहज क्रियाशीलता न उसकी इकाई को कभी भी इस संकोच म पूर्ण होने की आशा नहीं दी। वह पूर्णता उसम अपने आपमें सभात हो जाने म नहीं है उसके अपनेपन के विकास को प्राप्त करने म है। और उस विकास के लिए निरन्तर ही नारी उसका पूरक रही है। नारी की कल्पना उस एकांत की ओर नहीं खींचती। वह किसी और बड़े आश्रय की ओर ही आकर्षित होती रही है। यह एक नये परन्तु शाश्वत प्रकार का सबल है जो अपनी परिधि का विस्तार करके ही अपनी चरम तृप्ति का अनुभव करता है।

दर्शन की गौरवता पुरुष के अहं की ही अभिव्यक्ति बनकर आई है, जिसने नारी को माध्यममात्र कहकर स्वीकार किया है। यद्यपि सृष्टि के दृष्टिकोण से देखने पर नारी ही सर्वांग है और पुरुष उसके अंगों की छाया को अपने शरीर में सतत धारण करता है किन्तु समाज म विपुलता के उन्मय के साथ जीवन के दृष्टिकोण न भी अपने को वैसा ही बदला हुआ पाया जैसा कि उसकी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था ने प्रतिबिंबित किया।

नारी यद्यपि अपनी जनन के लिए अत्यन्त कष्ट उठाती है परन्तु वह कष्ट उसके आनेवाले आनन्द की तृप्ति और पूर्णता का माध्यम-मात्र है। इसलिए वह वसुंधरा का ही प्रतीक बनकर सब प्रकार की वेदना को सहज ही स्वीकृत करके निरन्तर पुरुष को सृजन की ओर प्रेरित करती रहती है। पुरुष न अपने को 'उन्मय चेतना' की प्राप्ति के भ्रम म जकड़ने की चेष्टा की है। नारी ने आवाहन किया है कि सुन्दर को सुन्दरतर

बनाओ।

और द्वन्द्व का रूप अपने-आप ही एक नवीन विषेय का परिणयन करता है जिसमें वासना पलों को भी पूरी तरह भोग लेने की आकांक्षा है। इस भोग को हम वासना का उत्थान-मात्र कहकर नहीं छोड़ दे सकते क्योंकि यह तो काल-यापन को बोझ न समझकर, जीवन के प्रत्येक क्षण की उपादेयता का मर्म समझकर उससे तादात्म्य विठा तन का सामरस्य है।

यह अन्तस की अनुभूति अपनी बाह्य मर्यादा के परिवेष्टनों को तोड़कर निकला है, जो प्रकट करता है कि नारी आज अपने मूक अवरोधों में नहीं रहना चाहती। बल्कि पुरुष के उस एकांगी दर्शन को ही चुनौती देकर उसे जीवन की सार्थकता की ओर खींचती है।

रूढ़िवादी आलोचक नहीं समझ सकते कि यह दृष्टिकोण जीवन के यथार्थ को कितना पास ले जाता है। इसमें समानता के अधिकार की निम्न कोटि की ईर्ष्या नहीं प्रतिस्पर्धा नहीं है बल्कि वह ऐसे सत्य का निरूपण है जिससे दृष्टि हटा लेने के कारण ही एक प्रकारण का मिथुन-द्वन्द्व पैदा हो गया है। संघर्षों और तूफानों की विवशित मादकता को भी झेल जाने की सामर्थ्य तभी जन्म ले सकती है जब क्षण के सुख की आत्मिक मन में जन्म ले सके क्योंकि क्षण अपने-आपमें सृष्टि की समस्त गत्यात्मकता और संगीत को स्वीकार कर सकता है। इस गति के जीवन्त होने की कल्पना के कारण ही संघर्षों को भी अन्तर्दाह कहा गया है क्योंकि संघर्ष का अन्त वास्तव में भाव के विकास का अन्त के लिए रुक जाना है। अब यदि कोई निरंतर के परिवर्तन में एक स्थिरता ढूंढ़ता रहे और अपने सारे पलों को गवा दे तो उसको वास्तव में न यही मत मिलता है न वही मत मिलता है जिसके लिए वह मृगतृष्णा में भटका करता है। यही वह क्षण की प्रतीति की भावना है जो नरतय को 'क्त' की भंगिमा में 'भाव' की व्यंजनात्मकता प्रदान करती है।

इसका कोई अन्त नहीं है। यह किसी भी अवस्था में हो सकती है। पुरुष में भी नारी की यह स्पंदना कभी कभी उत्पन्न हो जाती है। उसमें उस समय जो वृत्ति जागती है वह फिर मौन सीमाओं में बंधी नहीं रह जाती। रात की बरसात में भवानी प्रसाद तिवारी की तन्मयता उसीकी अभिव्यक्ति करती है जब कवि कहता है

यह रात री!
सघन रिमझिम बारिसेना
ले घिरी बरसात री!
दामिनी नभ में समाइ
जलद का उर चीर सखि
उपालम्भ बनी उमड़ती
चातकी की पीर सखि

जल रहे हैं प्राण पामर
भीगते हैं गात री !
सजनि मेरे प्राण यदि
होते न मेरे प्राण री !
सजनि मेरे प्राण यदि
होते कहीं पाषाण री !
कुछ न कहती मौन सह
रहती सभी आघात री !

—भवानीप्रसाद तिवारी

प्राण यदि प्राण न होकर पाषाण होते तो आघातों के विरुद्ध कोई उपालम्भ नहीं होता। किन्तु प्राण तो प्राण ही हैं। उनमें टीस भी है कसक भी है। वेदना के अनेक पहलू हैं। वे जागते हैं और सताते हैं। कितनी तड़पन है कि उसे बादल का हृदय भी चीरकर बिजली समाती हुई दिखाई देती है।

काव्य में यह प्रयोग उसकी अनुभूति प्रवणता को समझाने म ही सहायक नहीं होते, वे अनुकूल वातावरण भी प्रस्तुत किया करते हैं। प्रकृति का यह एक सरल चित्र है किन्तु इसमें वेदना की मूलता ने इसे एक प्रकार से सश्लिष्ट बना दिया है।

अंधेरी रात ! बरसता बादल ! कौंधती बिजली ! बालकी की पीड़ा और उसका उपालम्भ ! फिर प्राण पामर क्या हैं ? क्योंकि व समपर्ण करते तो कोई दुःख ही नहीं था। समपर्ण वे कर नहीं सके हैं। यह हठ ही तो दुःखदाई हो गया है। इसका उत्तरदायित्व किसपर है ? वेदना पर नहीं प्राण की सवेदनशीलता पर।

यह अंधेरी रात तो सदव दुःख देती है और सम्भव मन से कहती है कि किसी प्रकार समझौता कर

माई रंधरी रात अब—
सुख दिवस की मन गगन से
अंतिम किरन घुलने लगी
रगने उसे दुख की गहनतम
कालिमा घुसने लगी।
मर अलि पुतलियों की हुए
मुद्रित नयन जलजात अब।
इस विषमतन को निरख
मन की बात मन में रह गई
पर कोक कोकी की विवश
दुखकोर इतना कह गई

बीता जाता है वसन्त, अब
मरती जा यह रीती झोली !

—तारा पाण्डे

मधुरता सौंदर्य को जन्म देती है। सौन्दर्य अपने को नाद और स्वरूप में एकाकार करता है। कर्मी एक नये जीवन का पर्याय है। और नया जीवन स्वयं मुग्ध है क्योंकि सौन्दर्य अपने भिन्न रूपों में भी वास्तव में एक ही है। तभी जड़ और चेतन में एक ही चेतना का संदेश जाग उठता है। कीट्स में भी हम दूसरे रूप में मनुष्य की विगत के प्रति होनेवाली वेदना प्राप्त होती है। किन्तु उसके यौवन में अनजाना भोलापन नहीं मिलता। अनजाना भोलापन समाप्त होता है एक कसकन भरी वेदना में। एक ओर उड़ती धूल की उदासी है दूसरी ओर पिकी के उसी शाश्वत आनंद का स्वर है किन्तु हम भारत नारी के अन्तस्तल में प्रवृत्ति भरी आशा होली की भांति धधक उठती है। होली में स्मरण रखना आवश्यक है कि वह ज्वाला अपने आप नहीं उठती वह तो बड़े यत्नों से जलाई जाती है।

भाव अपना प्रश्न करता है कि हे कोकिल तेरा गीत इसीलिए मुझे बहुत प्रिय है कि वह संसार से न्यारा है। संसार में मुझे अस्थायी सौंदर्य मिलता है। क्योंकि नारी का जीवन उसके बंधनों में एक रीती झोली के समान है।

प्रकृति का सौन्दर्य अपने-आप तो सुन्दर होता ही है किन्तु शृंगार की भावना से मिल जाने पर उसमें एक अपरूप सौन्दर्य जाग उठता है। कवि नरेन्द्र की मस्ती अपना विकास करती है वह कहता है

खुली हवा है खिली धूप है दुनिया कितनी सुन्दर रानी !
आओ सारस की जोड़ी-से निकल चलें हम दोनों प्राणी !
उड़ चलें खेतों के ऊपर नीचे कोमल नरम दूब है
जहाँ शरद के मुक्त हास मिस हँसी ओस की बूंद खूब है !
उड़ें और आगे देखो वह कब से हमको पास बुलाते
अलग अलग फिर एक साथ सब वन के तरु सौ शीश हिलाते !
फैली थीं मानो धोती-सी वन में जो बरसाती नदियाँ
लगतीं अब मरकत महलों के बीच छिड़ी चाँदी की गलियाँ !

×

गंगा के संग लौट पड़ेंगे तुरत चाँदनी भरी रात में
फूलों साथ चलेगी भर कर मोती सेवा की परात में।
'टूट पड़ें हम भी' ! पूछेंगे बड़ी बड़ी बूंदों-से तारे,
चाँद उतर आएगा भू पर देखोगी तुम नदी किनारे।

—नरेन्द्र

संसार से विरक्त होने की आवश्यकता नहीं। प्रेमी को तो यह दुनिया बहुत

सुन्दर दिखाई देती है। मध्यकालीन कवि भी अपनी प्रिया को उपवनो म घुमाता था किन्तु उसमें स्वच्छंद सरसता नहीं थी। हमारी परपरा म राम और सीता जीवन के कष्ट झेलते हुए वन-वन म घूमते हैं किन्तु उनका दापत्य यदि मुखर होता है तो वाल्मीकि उसे विप्रलम्भ शृगार के अन्तर्गत ही दिखा सके हैं। इस कवि की प्रिया इतनी सहज मानवी है कि उसपर किसी प्रकार के कलुषित बंधन नहीं हैं। वह तो उसे सारस की जोड़ी की भांति उड़न का आवाहन देता है। सुदूर तक फली सुषमा म अनत आकाश में उड़ चलनेवाले इस जोड़े की मस्ती को कवि ने बहुत पास से छुआ है। वन मे सौ सौ धोंधो को वह एक साथ सिर हिलाते देखता है। कल्पना की उत्कृष्टता तब मिलती है जब हम वर्षा की मली धोती-सी नदिया को मरकत के महलों के बीच चांदी की गलियो की भांति छिकी हुई देखते हैं। कम्बन न अपनी रामायण म इस जल की तुलना एक व्यापारी से की है। कालिदास ने इसे एक अजगर कहा है किन्तु मेरा कवि इसे चांदी की गली कहता है। क्या यह विरोधाभास नही कि मैली धोती-सा पानी चांदी का सा लगे ? नहीं। वह मली धोती-सा पानी तो तब देख रहा था जब वह पृथ्वी पर था। कवि ने अब' शब्द का प्रयोग करके काव्य म सजीवता का स्फुरण किया है। वह तो आकाश म उड रहा है दूर से देख रहा है जहा से जल पर ऊपर की चमक पड रही है। पत्ता-पत्ता वन म धुलकर पन्ने की भांति चमक रहा है।

प्रकृति ने आधुनिक कवि को वास्तव म बहुत ही कोमल बनाया है। मेरा कवि कहता है

> ये असाढ़ी बादल प्यारे, ये कजरारे, ये गदरार
> उमड़ घुमड़ कर घूम रहे हैं आलिंगन की बाँह पसार।
> परों की धरती भी मानो सजल मेघ-सी उमड़ी आती
> सौ-सौ बार हृदय फटता है सौ-सौ बार आँख भर आती।
> कण-कण की भी सांस-सांस में होम-धूम की गध पगी है
> पाँवों की मिट्टी भी जसे बनकर ज्वलित कपूर जगी है।
> मेघ-पार की रहने वाली! अयि अज्ञात सुदरी मेरी
> मन मे झलक झलक छवि जाती निराकार सपनों-सी तेरी।
> पीत कपोलों पर युग-युग से अश्रुरेख बन लिखी हुई तू
> उर की प्रतिमा पर युग-युग से कुसुम-डाल बन लखी हुई तू।
>
> ×
>
> युग-युग के आसाढ़ों से मैं निज अलका की आग बुझाऊँ
> थपकी देती रह तू रानी मैं सुख-पीड़ा मे मर जाऊँ।

—शम्भुनाथ तिवारी

कजरारे बादर तो सूरदास ने भी कहे थे। परन्तु आलिंगन की बाहें अब ही अब आकर पसरी हैं। कवि का हृदय विरह की वेदना से पीड़ित है। कालिदास का

चिंतन तो मांसल मिलन का स्वप्न भरकर मेघदूत में बार-बार पुकार उठा था। यहां भी कवि पुकारता है, किन्तु उसपर तो कालिदास के युग से कहीं अधिक बंधन हैं। तभी तो वह कहता है कि मेरी प्रिया तो मेघों के पार रहती है। वह तो अज्ञात सुन्दरी है। सौंदर्य अज्ञात नहीं होता। अनदेखा तो मन में समाया रहता है तभी तो वह और भी अधिक सुन्दर लगता है। अज्ञात कहकर कवि युग-नारी के विरह की वेदना को किसी न किसी रूप से प्रकट कर ही देता है, क्योंकि वही तो युग-युग के अश्रु की रेखा से कपोलों पर अंकित है। वहां, जहां कवि अपने व्यक्तित्व की सीमा को व्यापकता देता है, वहीं वह अपनी वेदना को अस्पष्ट नहीं कर देता, वरन् उसमें एक टीस-सी भर लाता है। बरसात की मेघावली के बाद शिशिर के मेघ दिखते हैं

छाये ये शिशिर के मेघ
उन्मन से उनींदे से
उजली धूप के नभ ओर
धरती पर पहराए से
आये हैं समेटे एक
ठिठुरन श्वेत दामन में।
×
ढलती धूप के संगीत
में बहते हुए पल पल
गाते आ रहे पथभ्रांत
मधु बौछार भीगे से।
×
भूले हो गगन की राह
धरती पर उतर आओ
मैं भी व्योम की गहराइयों में
थक चुका उड़ कर।

—घनश्याम अस्थाना

कवि देखता है। न जाने क्यों उसे ये उनींदे से दिखाई देते हैं। उनींदे ही तो होंगे, उनमें वर्षा की सघन तीव्र क्षमता पर अभिव्यक्ति होती ही कहां है। शब्दों का चुनाव ही तो कविता का प्राण है। ये बादल ठिठुरन को अपने सफेद दामन में समेट लाए हैं। *दामन तो यहां किसी अहंकार भरी स्त्री का दामन-सा लगता है।*

इन मेघों में जीवन की रंजनवती भावना नहीं। पथभ्रांत है। कवि बहुत थक चुका है। दर्शन से उसे सांत्वना नहीं मिली है। वह ईश्वर के विषय में बहुत कुछ चिन्तन कर चुका है। उसे निस्सीम आश्वासन नहीं मिला है। तभी शायद वह सोचता है कि ये मेघ भी आकाश की राह भटकने के कारण ही अपने मार्ग को नहीं पहचान

एक। वह उन्हें धरती पर उतर आने का निमन्त्रण देता है क्योंकि धरती उसे प्यारी लगती है। वह इस धरती को प्यार करता है क्योंकि शून्य उसे उबा चुका है।

रेवतदान अपनी मारवाड़ी गीत की माधुरी में कहता है

ठठी बूठोड़ा री लर
मीठा बटाऊ रा गीत
भलो भादरवा री रात
मिले मनडरा मीत।
लागे प्यारी पुरवाई
आ तो झूम झूम आई।
लाई सपना सँवार
बाजे हिवड़े रा तार।
देखो लागे नहीं ठेस
बीणा टूट नहीं जाय
होले हालोरे बायरिया
भोलो सह्यो न जाय!
मीठी दिवली री धुन
उडे दिवली रो चीर
आवो ढलती चौमासे
भली नणदी रा वीर!
आयो आसोजाँ रो मास
मन मिलणे री आस।
गोरी डागलिये चढ़ आवे
आ तो भोलूडी कर रोय।

—रेवतदान

लोकगीतों की सी चपलता जैसे झूले की पेंग पर पेंग आ रही हो, या कोई चंचल चरण हो जो छुम छुन-छुन करके नाच रहा हो ऐसा है इस गीत में संगीत। यह इस धरती का ही प्यार है। मेरा कवि कहता है कि हे बयार! तू सपना सवार कर लाई है। हृदय का तार बजने लगा है। देख ऐसी ठस न लग जाए कि मेरी वीणा ही टूट जाए। तेरा भोला सहा नहीं जाता! इस न सहने की तुलना में जो आत्मविभोरता है उसकी तुलना उस गंभीरता से करिए कि व्योम की गहराइयां उबा रही हैं अतः हे मेघ तू धरती पर ही उतर आ। उतर आ क्योंकि यहां अधिक आनंद है। वह आनंद बहिन के हृदय में है उसको भाभी के हृदय में है क्योंकि वह प्रेम की आनंदमयी वास्तविकता है। न आएगा प्रियतम तो कल्पना तो होगी ही।

यही धारा और का अंधेरा परन्ती को दूसरे ही रूप में दिखाई देता है।

आकाश में मशालें जलती हैं पृथ्वी पर उजाला हो उठता है

नभ में चपल मशालें जलतीं
धरती पर उजियाला
कभी चमकती हुई ज्योतियाँ
कभी गहनतम काला।
खुले झरोखे, शीत पवन के
झोंके आते होंगे
और लता पर के दो पंछी
डर डर जाते होंगे!

×

संध्या के सूने में धीरे
टपक रही शेफाली
तो क्या तुम भी यों ही चुप चुप
रोती होगी आली?
किसी सुहागिन की गगरी
सम हों न छलकती आँखें,
सोच यही सन जाती धूल में
मन-मधुकर की पाँखें

×

पावस-गोद बिखर कर बिजली
हाय लगी मुस्काने,
रही मुझे तरसाती सजनी,
हँसी प्रलय का ढाने।
छूट मेघ घातों से छहरी
गहरी लिये खुमारी
और आ रही बौछारों-सी
हमको याद तुम्हारी!

×

सखी पूछता, तुमको भी क्या
याद न आती होगी,
घिरती घटा तुम्हें प्रिय
मेरी याद दिलाती होगी?

—परदेशी

उसे मेघ एक स्मृति का माध्यम है। वह अकेला उसे नहीं देखता। उसकी

ना में वह मेघ उसकी प्रिया तक फना हुआ है। कौन-सा नवीन युग आएगा जब
ष्य की यह स्पदना उसम से नष्ट हो जाएगी ? मेरी समझ में तो यह सत्य रहेगी।
हे की तान मनुष्य को तो आज तक अच्छी लगती चली आ रही हैं। उसके बोलों
विरह की अतरात्मा सदव अपनी प्रतिध्वनि पाती रही है। मेरे कवि ने जब उसे
। तब उसने वही स्थायी भाव की शक्ति जाग उठी।

रो बोले पपीहा कहीं पीउ-पीउ।
गूंज रहे धरती औ'
अम्बर में बोल ये
गूंज रहे विरहिन के
अन्तर में बोल ये
बूंदों की रिमझिम मे
बरसी ये टेर
लहरों मे जाती वही पीउ-पीउ।
लहिन-सी दामिनि
औं' डोली-से मेघ रे
जाने किस देश चले
लेकर ये मेघ रे
और कहीं सूने
आई पुकार
सुनती अटरिया रही पीउ-पीउ।

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

पपीहे की टेर का बूद-बूद में से बरसना एक नई कल्पना है मानो उसकी
रहव्याप्त वाणी मेघों के अतस्तल में रम गई है। एक ओर यही मेघ जो इतना
दात्त है इतना रसवान है वही दूसरी ओर पिघला हुआ भी है करुण भी है। उसे
त्व सरसहृदय माना भी तो गया है। वेदना उसमें लीन होकर व्याप्त जाए तो
ाश्चय ही क्या ? वही धरती पर गिरकर जब एकत्र होती है तो लहरों का रूप
ारण कर लेती है। इस समय समस्त तरलता से एक ध्वनि गूजती है—पिउ पिउ।
मानव कवि के मन में एक नई कल्पना जाग उठती है जसे वह बहुत भीतर छिपी
ी। वही इस वेदना की अनुभूति का मूल है। बादलों म जो सुवर्ण की भांति कौंधती
, वह दामिनी एक दुल्हिन-सी है जो मेघो की डोली में छिपी बैठी है। कभी वह
ाहर देखती है कभी पर्दों के पीछे छिप जाती है। जाने मेघ इस कहा लिए जा रहे
! दूसरी बार वह पिउ नहीं सुनता पिया का शब्द सुनता है। इस बार यह अभी
ुकार है

बोल रहे मोर कहीं दूर
अमवा की डाली पे कोयलिया बोले
नीबा की ओट कोई पिया पिया बोले
लहराते जमुनों के पेड़,
फूले हैं बौर कहीं दूर।
ऊपर हैं मेघ, नीचे धानी-सी घास है
कन-कन के मन में बसी पानी की प्यास है
घण्टी की प्यारी आवाज,
चरते हैं ढोर कहीं दूर।
पातों के मरमर में सोई मल्हार है
मेरे भी अंतर में कोई पुकार है
सूने में नयनन के द्वार,
मेरे चितचोर कहीं दूर।

—जगत्प्रकाश चतुर्वेदी

जमुनी के पेड़ अपनी हरियावली लहराते हुए खड़े हैं। आम की डाली पर कोयल बोल रही है। उद्दीपन से चित्र स्नात है। ऊपर मेघ हैं नीचे धानी-सी घास है। कन-कन प्यासा है दूर कहीं ढोर चर रहे हैं। उनके गले में घंटियाँ बंधी हैं जो टिनटिना उठती हैं। पत्ते-पत्ते में मर्मों का देखकर मल्हार सोई है। मानो एक ही तान सबमें छागई है। यही तान कवि के भी भीतर है। नयनों के द्वार सूने-से खुले पड़े हैं, चिर प्रतीक्षा में। क्या? क्योंकि कवि के प्रेम का पात्र दूर है, वह अब उसकी पहुँच के परे हो गया है।

यहां प्रेम है वासना भी है मांसल जीवन भी है, किंतु कहीं अस्वस्थता नहीं। हृदय में एक हिलोर उठती है भिगोती चली जाती है। वह उसे रोकता नहीं छूटता नहीं क्योंकि उसका धाम्न देखकर कोयल पुकार उठी है। मोर कहीं दूर है पर बोल उठा है। इसका मर्म वही समझ सकता है जिसने वर्षा के आगमन की वेला में अनेकों मोर की छिन्नभिन्ना केका का रव सुना है। जो कितना सुखद होता है, शब्दों में नहीं बांधा जा सकता, कवियों ने ध्वन्यात्मकता से इन पंक्तियों में अपनी रूप भावना को साकार किया है। व्यक्तिभास के परे लोक भावना भी जगाई है

लता कुञ्ज में कोयल बोली।
आज रूप से फूली-फूली
दुनिया अपने में ही भूली
वन-पलाश के फूलों में भी
किसने आकर रोली घोली?

तरु तरु पर उल्लास समाया
पत्तों ने नव जीवन पाया
ले अबीर की झोली अपनी
निकल पड़ी तरुणों की टोली!
रगभरी पिचकारी छूटी
मर्यादा की सीमा टूटी
जन-जन रस रहा है खुल कर
हसते गाते होली-होली।

—हीरादेवी चतुर्वेदी

यह बसत की कोकिल है। सस्कृत के कवियो ने पुस्कोकिल का नाद सुना था। वे पुरुष थे। नारी प्रकृति म कोमलता देखती है और इसीलिए उसे स्त्री रूप ही अधिक भाता है। और अपनी ही प्रतिकृति का वह उल्लास का भी कारण मानती है। मेरी कवयित्री को इसीलिए सबमे आनन्द दिखाई देता है। होली की उमंग छा रही है। और स्त्री हृदय की सबसे मार्मिक अनुभूति तब जागती है जब मर्यादा के टूट जाने म वह उल्लास को सजीव होता हुआ देखती है। उसकी कल्पना सबको देखना चाहती है सभी वह जन-जन को खेल म तत्पर देखती है। यहा कोई अपने भाग्य का विसूरता हुआ नही दिखाई देता कि हाय मैं कैसे खेलू? क्या हम इस यूटोपिया की कल्पना कहे, या यह कहे कि वास्तविकता का सत्य नही देखा गया! लेकिन हम स्मरण रखना चाहिए कि जनसमाज व्यक्ति आनन्द और दुख म लोक भावना रखकर विभाजन करते हैं। वे विकृत मनोभावनाए नही रखते जोकि व्यक्तिवाद का मूलाधार है। व्यक्तिवाद तभी दृष्ट होता है जब वह समाज के विरुद्ध खडे होने की चेष्टा करता है। अन्यथा यह दो ही दृष्टा के माध्यम स सबसे अपना महत्व साधारणीकरण करने मे समथ हो जाता है क्योकि मनुष्य की व्यक्तिगत इकाई ही उसके समाज से सम्बन्ध जोडती है और अपनी इकाई में ही सबको प्रतिबिम्बित कर लेती है। कवि कहता है :

कूक, मयूरी कूक!
श्याम सघन गगन में घन से
त्याग हृदय की हूक।
मधु रसाल के विटप हिंडोला
विमित पख पसार
स्वागत मे पावस के तू भी
गा गा सखी, मलार।
तज विरहिणी वन अपना अब,
कबरी सघन सँवार

बन जा तू मेरी तन्त्री का,
मीड़, गहन गुंजार !
मिलकर हम इस विश्व-वीन के
हो जायें दो तार,
यों उसके पावन निनाद में
विलय करें स्वर-धार !

—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

एक नारी दूसरी से जो तादात्म्य स्थापित कर सकी है शास्त्रीय शब्दावली में उसे 'रति' का ही नाम दिया जा सकता है। प्रकृति के अनेक रूपों के चित्रणों में यह चित्र हमें वर्तमान हिन्दी कविता में काफी अधिक मिलता है। राजस्थान के पुराने लोकगीतों में इस प्रकार की व्यञ्जनाएं प्रायः मिल जाती हैं। यहाँ तो कवि मयूरी के रूप में विरहिणी वेग का अन्त करता है। और एक पावन निनाद में सब कुछ को सराबोर कर देना चाहता है। चित्रात्मक गति इस कविता का प्राण है। मयूरी का कूकना विशेष अंग भंगिमा के साथ होता है और दर्शक में अपनी एक अमिट छाप छोड़ता है तभी कवि ने उसे आवाहन दिया है। मयूरी एक प्रतीक ही है जिसके माध्यम से कवि प्रकृति के उत्साह की अभिव्यक्ति करने में सफलता प्राप्त करता है।

प्रकृति उद्बोधन का माध्यम ग्रहण करती है तब हमारे सामने एक नयी बात आती है। अपनी कविताओं में 'प्रसाद' और महादेवी वर्मा ने भी इस प्रकार के वर्णन किए हैं। महाकवि कालिदास ने भी शिप्रावात का वर्णन किया है जो यूथिका की सोई कलियों को जगाता है।

यहाँ कवि शेफाली को जगाता है। शेफाली एक सुन्दरी है, जो मिलन का सुख प्राप्त करती है। वह सुहागिनी है

जाग, शेफाली, जाग !
जगा रहा है तुझे सोमरस पी-पी कर मृदु वात
जगा रहा है तुझे व्योम से घन मह सद्यस्नात
जगा रहा है इंगित कर-कर उडु का सौर-समाज !
अरी उनींदी अलसायी-सी
आँखों को ले खोल,
सरस सजीली ललित माँग में भर सिंदूर-पराग
कर जागृत मन, प्रण, प्रियतम से, कूक में पिक से राग !
अतड़ न्द्व मिटा कर उनके बाहुपाश में जाग,
जाग, शेफाली, जाग !

—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

सौंदर्य की इसी भावना में रवीन्द्रनाथ ने उर्वशी में रूप का जागरण कोई

साधारण घटना नहीं मानी है। मेरा कवि भी शेफाली की सुषमा की महत्ता को जानता है। सोमरस पीकर मृदु वात उसे जगाता है मानो वह एक ऊर्जस्वित वीर्यवाला कोई प्राचीन भाव है जिसके होंठों पर अभी तक मन्त्रोच्चारण की धीमी धीमी गूंज सुनाई दे रही है। मेघ पवित्र है, धुला हुआ है सारे ग्रह-उपग्रह उसके प्रति चेतन हैं जागरूक हैं। उसका जागरण एक साथ धन मन भ्रमर शुक पिक सबको रागान्वित करेगा सबमें सोए हुए मतृप्त भावों का शमन करेगा सबमें जीवन्त स्पृहा जगाएगा। उनके भीतर की उथल-पुथल शान्त हो जाएगी। कवि की शेफाली को प्रतद्वन्द्व के परे होना आवश्यक है। वह तो रूढ संस्कारों के कारण उत्पन्न होता है और अब ऐसा वातावरण है जिसमें हृदय को मुक्त होकर रहना है। सकल सृष्टि के बाहुपाश जिसे अपने भीतर समेट लेने को उद्यत हैं वह कोई परकीया नहीं वह लोक की स्वयसिद्धा सजीवता है तभी उससे ऐसी व्यापकता की आशा की गई है। यह मांसलता पर समाप्त हो जाने वाली बात नहीं शेफाली रूप की चेतना है। क्योंकि यहां वेदना व्यक्तिपरक नहीं है यह किसी गर्हितावस्था की ओर इंगित नहीं करती। वेदना की व्यक्तिपरकता दूसरे प्रकार का चित्र उपस्थित करती है

शरद शीतल शिशिर व्याकुल
भर गई हेमन्त सिहरन पांखुरी में
चल वसन्ती वायु स्वर्णिम भर गई
रस रंग शतदल पांखुरी में
हर सांस में मीठी घुमन भर
प्यास का ग्रीषम मुझे तरसा गया
इस दग्ध चातक की तृषा पर
विष भरा जल मेघ भी बरसा गया
देख लो बेपीर! अब लो
पीर की तस्वीर उतरी आ रही है
याद उभरी आ रही है

—शिवबहादुर सिंह

नयी कविता कोमल और परुष दोनों की ही वाहिका है। हर सांस में मीठी घुमन भरकर प्यास का ग्रीष्म को तरसा जाना ही इतनी व्यथा का आशय था कि उस पर वह तो बेचारे दग्ध चातक की तृषा पर विष भरा जल मेघ भी बरसा गया है। तभी तो बेपीर को ही फिर सुनाया जा रहा है कि तुम तो बेपीर हो! पर यहां तो पीर की तस्वीर उतरती आ रही है पीर ही याद है।

स्मृति के वश होकर प्राचीन नायक-नायिकाएं भी व्यथा से भर जाते थे। वाल्मीकि के राम को भी पीर उठी थी जब प्रस्रवण गिरि पर बादलों ने उन्हें अशांत कर दिया था। उस चित्रण में बाह्यजगत् के द्वारा भीतर हलचल उठी थी यहां तो वह

पहले ही से थी, केवल माघ ने उस अन्तस्थ को सहारा-मात्र दिया है।

यौवन-विषय की यह संवेदना कितनी व्यापक है, इसकी गहराई तभी पता चलती है जब हम बदलती हुई ऋतुओं के चपल चरणों को भागते देखते हैं किन्तु वह जहां की वहां बनी रहती है। उसकी असंदिग्धता का भार तब ही प्रकट होता है जब हम चल वसन्ती वायु को मलयज म रसरंग भरते देखते हैं। वायु की स्वर्गिम मदहर कवि उसे दृष्टि का भी सहारा लेने को बाध्य करता है। प्रतीक्षा की बेला का दुख गहन है

रात पिया पिछवारे पहरू ठनका किया।
कप-कँप कर दिया जला, बुझ-बुझ कर यह जिया,
मेरा अंग अंग जसे पछुए ने छू दिया
बड़ी रात गये कहीं पपीहा पिहका किया।
आँखड़ियाँ पगली थीं नींद हुई चोर की,
कई बार आ आकर बाढ़ रुकी लोर की
रह रह कर खिड़की का पल्ला उड़का किया।
पथराये तारों की ज्योति डबडबा गयी
मन की अनकही सभी आँखों में छा गयी
सुना क्या न तुमने, यह दिल जो धड़का किया।

—केदारनाथ सिंह

यह प्रतीक्षा परम है। इसमे ग्रामीणता का प्रभाव है। प्रमिका सेटी है। वह एकांत म है। प्रमी दूर है। सारी-सारी रात का जागरण है। इस चित्र में बीतता समय बहुत ही लम्बा है। दिया कॉप-कॉप कर जलता है जिया बुझ-बुझकर जीता है। यह जीवन से बांधा हुआ एक सुन्दर रूपक है। प्रम का दीप है वह। बाधाओं म जीवित है अपनी वेदना से त्रस्त है किन्तु बुझता नहीं और सभी जागत जागते जब काफी देर बीत जाती है, समय का गिनना जब बन्द हो जाता है रात्रि की व्यापक निस्तब्धता म अवधि ज्ञान निस्सीमा को धारण कर जाता है तब बड़ी रात गए के सुने हुए शब्दों द्वारा मेरा कवि पपीहे की आवाज का वर्णन करता है। वह आवाज देर तक गूंजती है। प्रेमिका सोने का प्रयत्न करती है किन्तु सो नहीं पाती क्योंकि खिड़की का पल्ला बार-बार खुल जाता है। कितना सजीव चित्र है! पथरा जाते हैं तो ज्योति डबडबा जाती है, मानो यह अपनी ही आंखों का बिम्ब-वर्णन है, जिसमें दृष्टि एकटक हो जाती है देखते-देखते आँखें पथरा जाती हैं और उनम आंसू भर आते हैं। किन्तु दृष्टि एक तो स्वयं नयनतारा लिए है दूसरे प्रतीक्षा स्वयं एक टिमटिमाता आलोक है मानो यही उस अंधकार में सहारा देनेवाली वस्तु है। आंसू की ज्योति से तुलना इसीलिए है कि इसमें कवि को अपनी निस्पृह धीरता पर विश्वास है। इस प्रेमिका का चित्र हिन्दी साहित्य में कम ही मिलेगा।

प्रम एक यात्रा की मंजिल है या निरंतर यात्रा है यह कवियों की वैयक्तिक

दृष्टि पर निर्भर है। कभी-कभी वे केवल वर्णन के माध्यम से ही अपनी बात कहते हैं

दिन जल्दी जल्दी ढलता है !

हो जाय न पथ में रात कहीं, मंजिल भी तो है दूर नहीं
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी-जल्दी चलता है।
बच्चे प्रत्याशा में होंगे नीड़ों से झाँक रहे होंगे
यह ध्यान परों में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है।
मुझसे मिलने को कौन विकल? मैं होऊँ किसके हित चंचल?
यह प्रश्न शिथिल करता पद को भरता उर में विह्वलता है!

—बच्चन

दिन का जल्दी जल्दी ढलना और पथिक का जल्दी-जल्दी चलना दोनों एक साम्य प्रदर्शित करते हैं। इन दोनों में 'त्वरिता' का लाक्षणिक प्रयोग है। धूप सूर्य सबका गत्यात्मक होना पूरे चित्र को उभार जाता है। दिन का पंथी अब अपनी मंजिल के पास पहुँच चुका है। पास आई मंजिल तक पहुँचने की उत्कट अभिलाषा इस आशंका के प्रति निरंतर जागरूक है कि कहीं मार्ग में ही रात न हो जाए, कहीं जीवन की सारी साधना बीच में ही खंडित न हो जाए। यह पथिक व्यक्ति-मात्र नहीं। उसका अपनापन लोक-जीवन से तादात्म्य चाहता है। क्योंकि पक्षियों के हृदय में बच्चों के प्रति उत्सुकता है वह अपना सुख उनसे करता है। हो सकता है कि कुछ लोग इस भाव को केवल आकस्मिक ही समझें किंतु ऐसा करना वास्तविकता से दूर जाना होगा। यहाँ प्रकृति का चित्रण अपने आपके लिए नहीं हुआ। पारिवारिक जीवन की भूख को व्यक्त करनेवाली ये पंक्तियाँ आज समाज की विषमता पर तीखी लकीर खींचती हैं। अज्ञात के प्रति प्रेम की उलझन यहाँ सांसारिक सम्बन्धों के द्वारा हृदय को छूने लगती है। क्योंकि मुझसे मिलने को कोई विकल नहीं मैं कहाँ जाऊँ? यही प्रश्न उठता है। संस्कृत के कवियों के नायकों को प्रतीक्षा करने करनेवाली नायिका मिलती थी। नवयुग में यह पारिवारिक संबंध भी उजड़े-से दिखाई देते हैं। इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें जो भी अभिव्यक्ति है वह बहुत सरल है, स्पष्ट है और अकृत्रिम है। उसमें अलंकारों के पीछे दौड़ा नहीं गया किन्तु वे स्वयं उसमें आ गए हैं। इसी प्रकार नये काव्य में मध्यकालीन आधारों को लेकर भी अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया गया है

बज उठी बाँसुरी नदी-तीर
मैं युग-युग से सुनता आई
प्राणों में भरती मधुर पीर!
वह कौन तान है वंशी की
कर देती मुझको अति अधीर!

कहता जग मुझको मतवाली
मैंने जीवन की निधि पा ली
क्या जाने किस आनद हेतु
बहता नयनों से मधु-नीर।
अलि, कौन दिशा से आ आकर
इस नीरवता को रहा चीर।
मैं सोच रही चुपचाप आज
सज रहीं गोपियाँ सुखद साज
उस कृष्ण कन्हैया से मिलने
पनघट पर प्रगणित हुई भीर।

—तारा पायडे

कृष्ण और राधा की प्रेमगाथा इस देश की रग रग में समाई हुई है। लेकिन अपने प्रेम की तड़पन को पुरान आधार देकर अपने को समाज-बंधन से मुक्त कर लेती है और फिर उसे व्यक्त करती है। यहां हम एक युग-युग का बसी रव सुनते हैं। मानो यह प्राणों की पीर एक दिन की नहीं है। इतना निश्चित है कि प्रत्येक युग में ऐसी विह्वल नारी को मतवाली माना गया है। मीरा भी मतवाली थी बल्कि श्रीमद्भागवत की यज्ञपत्नी भी मतवाली ही थी। ये दोनों भी किसी प्रकार बंधनों म नहीं बंध सकीं, फिर यही क्यों बधे ! गोपियों की सज्जा यह देखती है परन्तु अपने विषय म कुछ नहीं कहती, क्योंकि यहां स्त्री की स्त्री क प्रति भीतर ही पलनेवाली डाह है, उससे मुक्त होना सहज तो नहीं है। इस तरह की ईर्ष्यापरक रचनाएं और भी हैं जिनम हमें वासना का ही रूप दिखाई देता है

सुहागिन मुझे अपेक्षा क्या ?
संध्या-सा जिस प्रिय का चुंबन
मन्द पवन-सी जिसकी बाँहें
साल लाख बीतीं बिसरायें
किस दिन किस क्षण पास न आयें
तू रूठी प्रिय में तुझको यह
प्रतिबंधों का मेला क्या ?

×

ठौर ठौर प्रिय स्मृति का मंदिर
जहाँ कम बन गए वदना
यौवन बना आरती तेरी
और बुढ़ापा बना अर्चना

प्रिय दर्शन को तुझे पुजारिन
येसा मौर कुवला क्या ?

—विद्यावती कोकिल

सुहागिनी अकेली है। परतु वह अपन को अकेली नहीं मानना चाहती। उसका प्रिय चुम्बन लेता है। थोड़ा म उस भर सता है वह स्वयं सारे प्रतिबधो को तोड़कर उसके रग म डूब गई है। किंतु सुहागिनी की वासना किसी विशेष आयु म समाप्त नहा हो जाती। उसे प्रिय दूर नहा लगता। हर जगह उसके सामने मदिर है मन्दिर है प्रिय का प्रिय का मदिर क्या है ? स्मृति ! वह तो जगह-जगह बिखरा पड़ा है। यहा-वही जगह उसके लिए पवित्र है। उस प्रिय ही सवत्र अपनी स्मृतिया देकर गया है। वह उसके लिए खोई-सी नहीं बठी रहना चाहती। अपने जीवन की सवश्रेष्ठ कल्पना और तन्मयता म वह अकमण्य नहीं होती। वह कम म लगी है मानो कम करके वह उसीका गौरव उन्नत करती है उसीकी वदना करती है। यौवन और वाद्धक्य की सीमाएं प्रेम को समाप्त नही करती क्योंकि वह प्रेम घमरासक्ति नहीं है। कमठ तन्मयता है। सब समय में जब वही साधना है तो उसम किसी प्रकार का भी अलगाव क्यों माना जाए ! रहस्यवादी इस भगवान के प्रति लेना चाहेगा किंतु तात्पर्य क्या तब यही नहीं रहेगा ? हमारी भारतीय परंपरा का निगुण क्या सदव सगुण को भीतर ही भीतर लेकर नहीं पनपा है। इन दोनो के बीच की दूरी को यहा व्यापक दृष्टिकोण म स्वीकत ही कब किया गया है !

अपने इस प्रिय का वर्णन करते हुए मेरी कवयित्री ने कहा है कि वह मूलत सुहागिन है। वह इसपर विशष बल देती है

मैं तो अपने पिया की सुहाग भरी
इन नयनों मे वह छवि देखी
इन पर तो रजनी झुक आई
तारों के मिस अपनी सब निधि
बेसुध इधर उधर बिखराई
तब पिय की अहिवात भरी
स्मित मे झुक मेरी माँग भरी।
पिय की अगुलियों को छू
जीवन के टूटे साज बज गये
भले-बुरे सब कम सँवर कर
स्वर बन अपने आप सज गये
मैं भूली माया पर मेरी
वीणा है अब राग भरी।

—विद्यावती कोकिल

सुहागिन बनी रहने की बात प्रममाग की बात है। कबीर म भी थी उस कबीर म जो कि ईश्वर को मानवीयता देना चाहता था। तभी 'अहिवात' का प्रयोग किया गया है।

वह अपनी भाषा भूल जाती है पर उसकी बीणा स्वयं राग से भर जाती है। अर्थात् वह अपनी अलगाव की बात भूल जाती है किंतु उसकी सत्ता स्वयं ही मधुर स्वर से गूंजने लगती है।

तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आकर्षण जो अव्यक्त के प्रति है वह वास्तव में किसी समाज-बंधन के कारण ही होता है। यहाँ यह भी मानना ही होगा कि *व्यापकता को जो प्रश्रय मिला है वह बहुत कुछ इसी बंधन के कारण मिला है।*

मनुष्य का भगवान क्या है? क्यों वह शताब्दियों स उसमें अपनी सुंदरतम भावनाओं को आश्रित करता रहा है? क्योंकि मनुष्य और मनुष्य मनुष्य और सृष्टि के बीच वह एक संबंध जोड़ना चाहता था, एक तादात्म्य उपस्थित कर सकना चाहता था। इसीलिए वह भगवान सदैव ऐसे समय मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति का साधन रहा है, जबकि अन्यत्र उसे बंधन मिले हैं। वह वात्सल्य से लेकर दाम्पत्य तक का सहारा बनकर रहा है। उसकी ना ो ध्वनि म भी अतमु क्ति होती है

तुम्हारे रूप-मंदिर में
प्रतिक्षण दीप जो जलता
करुण उसकी शिखाओं का
चिरंतन प्यार मैं प्रियतम!
तुम्हारी बीन के सपने
हुए साकार जिसको छू
गगन के प्राण में जो
बद वह झंकार मैं प्रियतम!
तुम्हारे आँसुओं में सृष्टि का
मंगल-कुसुम बन कर
युगों से खिल रहा जो
मौन वह उपहार मैं प्रियतम!

—प्रभात

रूप की ज्योति और संवेदनात्मकता एक सत्य मानकर चलती हैं कि लोक म मंगल का मूल करुणा ही है। वह च है मुखर रहे या अव्यक्त। यदि और भी गहराई म देखा जाए तो भारतीय इतिहास म भगवान न मनुष्य को कई बार समाज की विषमताओं म उबर आने की जीवंत शक्ति दी है। वह जो परमात्मा हमारे इतने पास आया है उसकी पृष्ठभूमि म क्या मनुष्य की अनथक आशा ही नहीं है? आज भी जिन कविताओं में हम आत्मा के तल्लीन एकाकार का स्वर मिलता है वे प्राय भगवान का

आश्रय ले लेती हैं। इसमें दोनों ही पक्षों का निर्वाह हो जाता है। यद्यपि हमारे स्थायी भावों की जागृति हमारे शृंगार पक्ष से होती है किंतु हमारी भावना इस रूप में उदात्त सी हो जाती है क्योंकि कम से कम इस रूप में हम अपनी सारी क्षुद्रता का त्याग कर देते हैं। यह सत्य है कि एक अंश तक इसमें एक नशीलापन है जो हमें संघर्ष के व्यावहारिक रूप से कुछ दूर हट जाने की ओर इंगित करता है किंतु यह इसीमें दोष क्या माना जाए ? राजनीति की प्रति में घमनवाले भी तो पार्टीवाद में समग्र मानवीय मूल्यों को अत्यंत निम्न स्तर पर उतार लाने की चेष्टा करके कुत्सा को जन्म देते हैं। इस दृष्टि को रखते हुए हम यह देखते हैं कि यह परमात्मा संबंधी विरति वास्तव में अधिक ही कल्याणकारी है। इसके प्रभाव में हम अवश्य झूमने लगते हैं

हो शान्त, जगत के कोलाहल !
रुक जा, री जीवन की हलचल !
मैं दूर पड़ा सुन लूँ दो पल,
संदेश नया जो लाई है यह चाल किसी की मस्तानी !
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

—बच्चन

पगध्वनि नामक कविता में जो पलायन है उस मैं पलायन नहीं मानता क्योंकि उसने एक समय सप्तुताओं की बहती धार को रोककर कहा था 'ठहरो ! तुम्हारे बंधन छोटे हैं आओ रूप को देखो व्यापक बनो अपने को उदात्त बनाओ तन्मयता का राग गाना सीखो।

रव गूंजा भू पर अंबर में सर में सरिता में सागर में
प्रत्येक श्वास में प्रतिस्वर में,
किस किस का आश्रय ले फैलें मेरे हाथों की हैरानी !
ये ढूँढ रहे ध्वनि का उद्गम मंजीर मुखर युत पद निर्मम
है ठौर सभी जिनकी ध्वनि सम,
इनको पाने का यत्न वृथा श्रम करना केवल नादानी !

—बच्चन

बच्चन ने अपनी कविता में स्पष्ट कर दिया है कि यह जो अतीन्द्रिय चेतना है वह तुम्हारे साकार मानवीय आवेगों से निस्सृत है आओ अपने व्यक्तित्व को पहचानो इसको भूलो मत। यह स्वर उठाकर कहता है

मैं हो इन चरणों में नूपुर नूपुर ध्वनि मेरी हो वाणी !

—बच्चन

बच्चन की कविता अपने साथ एक ज्वार लाई थी। एक ओर छायावादी स्वर जनता को दंन योग्य देकर चुप हो गए थे दूसरी ओर राजनीति छाई हुई थी। सांस्कृतिक संवदनात्मक चेतना का बच्चन ने हो जाने या अनजाने फिर प्रवाह बहाया

था। कुछ लोगों का मत है कि बच्चन ने मदो की छलना फैलाई थी। किंतु यह याधिक सत्य है। बच्चन के स्वर में आगरण अधिक था क्योंकि अपनी बहुत सी और बेचनी के उस युग में उसका स्वर निम्न मध्यवर्ग को झकझोर उठा था। निम्नमध्य वर्ग उस समय सबसे अधिक चतुर्थ वर्ग था। उसी वर्ग में उस समय सारा काव्य पल रहा था। हठात् जो उस वर्ग के कुछ तरुणों ने 'रूसी' अनुकृति में नया काव्य सजकर लाना प्रारंभ किया वह अपनी जड़ें नहीं पकड़ सका। हमारी विद्रोही भावना आत्मा और परमात्मा के संबंधों का विकास करती हुई आगे बढ़ रही थी। उसमें जीवन के सुहाग का समन्वय था। उसमें एक कल्याणकारी शक्ति भी उपस्थित थी। उसमें व्यक्ति ने काफी दूर तक नया स्वप्न देखा था

मेरे मन रत ना जाने
पल भर भी तो कहीं न पलकें
मैं क्या जानूं सांझ सवेरा
अब तो सपनों का घन छूटा
जाओ पंछी छोड़ बसेरा
आह नहीं कोई भी प्राणी
मेरी इस गति को पहचाने।

×

पिंजरे में जो पंछी बंदी
मुझको होकर दीन निहारे
उड़ जा रे अब देर न कर तू
खोल युगों के बन्द किवारे।
धुन लो हंसा आज विदा के
हैंसो दो मोती के दाने।

—चंद्रमुखी ओझा 'सुधा'

उसने विद्रोह भी किया था किन्तु उसकी एक विशेषता थी कि उसने कुरूपता के स्थान पर पहले सौंदर्य के नये रूपों को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। 'यह सब भी प्राचीन विचारधारा जो बहुत पहले ही हृदय का साकार रूप धारण कर चुकी थी वह अब अपने दोनों पक्षों को उपस्थित करने लगी। एक ओर पिंजरे में बन्द चेतना दूसरी ओर शरीर में बन्द आत्मा थी। किन्तु आत्मावाला पक्ष तो बहुत पुराना पड़ चुका था। चेतना की नयी रस्सी शताब्दियों के पनघट को घिस रही थी। वह जीवन के नीर के पास पहुंच रही थी। उसे समझने के लिए हमें उसको पूरे तारतम्य के साथ देखना होगा। तभी तो कवि-हृदय ने स्वप्न के घन से छूना स्वीकार किया है। जिस प्रकार रवींद्र ने 'एकला चलो' की ध्वनि उठाई थी, यह नया हृदय भी किसीके समर्थन की आकांक्षा नहीं करता था। उसने शीघ्र ही अपने एकांत-पक्ष को छोड़ा और समाज के

मूल 'यूनिट' परिवार को परिवार भी दम्पतिपरक अपना नया माध्यम बनाया। किन्तु वह भारतीय समाज में एक द्वन्द्व बन गया क्योंकि पत्नी-पक्ष अभी निबल था। तभी उसने कहा

रस की दो लहरें मिल करके
बन जातीं सगम गीतों का
आकुलता की दो धारों में
चरम सत्य पलता प्राणों का
जग का सहज प्रवाह न रुकता
हम तुम रुक जायें तो क्या है!
मन के भ्रम की गाँठ टटोलो
इस अनित्य का छोर कहाँ है!
जीवन का प्रवाह लहराता
बाँहों का जड़ सयम तोड़ो!
मिट्टी के तन में मकड़ी से
दुविधाओं के जाले तोड़ो!
मैं क्या हूँ, तुम क्या हो इसका
छोर न ढूढ़ो, सब जीवन का
रस की दो धारें मिल करके
बन जातीं सगम गीतों का।

—शिवनारायण सिंह 'सुयोगी'

उसने विश्व को अनंतप्रवाह स्वीकार किया। उसने जीवन की गतिशीलता को ही प्रमुखत्व दिया। यह दुविधा जो जाला बनती है उसने उसे तोड़ दिया। ससार को प्रवाह मानकर भी उसने अनित्य स्वीकार कर लिया। और रस की प्रमुखता को ही सारी प्ररणा दी। अपनी विषम परिस्थितियों को देखकर उसने सिर नहीं झुकाया किन्तु जीवन का अंधकार पी लेने की स्पर्धा की

समझ न आता इस मिट्टी में
कातर प्राण कहाँ बहते हैं।
भारी सी चलती सीने में
तिल तिलकर कटते रहते हैं।
यह तड़पन भी क्या है कन-कन
कर क्षण-क्षण मिट्टी झरती है।
लेकिन मन की लपटें पीकर
आँसू बन ढलती रहती है।

इठती रस्सी का घूमा मन
बाँध रहा हूँ तम जीवन का

—शिवनारायण सिंह सुधांशु

अब एक नई बात ने जन्म लिया। उसका मूल भी भारतीय चिंतन में प्राचीन ही था, किन्तु उसको नये ढंग से प्रस्तुत किया जाने लगा। यह रवींद्र का प्रभाव नहीं था इसे तो उपनिषदीय चिंतन का ही नया रूप कहा जा सकता है। प्रिय की व्याप्ति में लोक की नई समाहिति प्रारम्भ हुई

मेरे जीवन सिंधु मथन के
तुम प्रिय अमृत के अधिकारी!
यह तम पारावार अगम तुम
जैसे एक अकेला तारा।
महाशून्य में बिंबित जैसे
मेरे ही उर का उजियारा।
रूप दीप जल उठा तुम्हारा
मेरा स्नेह बूंद भर पीकर
मुझे जलाकर चाह रहे
मेरी ही आँखों की अधियारी!
गाते तुम थक गये, बज रहा
पर यह जीवन का इकतारा
गूंज रहा है विविध राग में
महामौन का गान तुम्हारा
धरती और गगन को देखो
बाँध एक ही स्वर की रेखा
स्थायी उगती यहीं तार पर
तुम स्वर के मन में सचारी!

—हंसकुमार तिवारी

संगीत की लय अब सत्ता को कसमसाने लगी। आलोक और चेतना एक ही के दो पर्याय बन गए। जलन में अधकार समा गया। नयनों की असीम प्रतीक्षा सुदूर के आशाप्रद नक्षत्र को देखने लगी। और भी एक बात हुई कि महाशून्य में जो भी आलोक था, वह मानव के हृदय का ही प्रकाश बन गया। जीवन पहले तो एक सिंधु के समान था, जिसका मथन हो रहा था। उसमें से अमृत निकालना आवश्यक था। उस अमृत का अधिकारी वही था जिससे सारी सृष्टि का सचालन हो रहा था। किन्तु वह सचालक अपने ही मन का उजियाला तो था। उससे दूरी थी हा क्य! और इसी लिए संगीत की तन्मयता का अन्त नहीं हुआ। जीवन इकतार की ही भाँति बजने

लगा। जिस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में हमें सामनाद की प्रतिध्वनि मिलती है मानो एक ही अमर गीतात्मक प्रतिध्वनि से सकल चराचर मुखर हो रहा हो उसी प्रकार यहां भी विविध राग गूंजने लगे। किन्तु यह संगीत महामौन कहा गया क्योंकि इसे मनों से नहीं सुना जा सकता। जिस प्रकार अपने शरीर में दौड़ते रक्त की धड़कन हम स्वयं बिना रक्तचाप मापक यन्त्र के बिना नहीं सुनते किन्तु ध्वनि मौन में समाहित रहती है उसी प्रकार यह भी व्याप्त है पर हम सुन नहीं पाते। पृथ्वी को आकाश से जोड़कर कवि ने एक व्यापक चेतना का अनुभव किया है। तभी अन्यत्र कहा है

> गायक डूब गया वीणा में
> नीरवता हो शेष रह गई
> जाने किस अभिराम लोक की
> मधु मकृति निःशेष बह गई।
> अर्गाणित तारों के नतन में
> मुखरित हुआ एक वह कंपन
> जो तारों के पास बिखर कर
> दिव्य कर गया रस अकन
> काइ-खंड की सूक्ष्म शून्यध्वनि
> मौन रही पर बहुत कह गई।
>
> —परमेश्वर द्विरेफ

हम अपनी पृथ्वी के ही बंदी नहीं रह गए, महासृष्टि को ढूंढने लगे। इस समय तक विज्ञान ने नये सत्य खोल थे। हमारे देवता ग्रह-उपग्रह बन गए थे। ग्रह-उपग्रह वे पहले भी थे पहले भी विश्व ब्रह्माण्ड संसार जगत्, लोक आदि शब्दों के विभिन्न अर्थ थे जिनकी हम अन्यत्र व्याख्या कर चुके हैं, किन्तु फिर भी हमारे मानवीय प्रयोगों का तब तक वैज्ञानिक लेखा-जोखा नहीं हुआ था। नये युग में भारतीय चिंतन ने इस सबको देखा। यह कबीर के मलकूत और नासूत की अभिव्यक्ति नहीं थी। यहां तो सारी सृष्टि में एक ही समान देखने की चेष्टा थी।

जब जब मनुष्य ने अपनी छोटी पृथ्वी का अहंकार करके अपने सुन्दर जीवन को विकृत करने की चेष्टा की है कवियों ने उसे याद दिलाया है कि अपने को सापेक्ष मान कर चलो। युग-विशेष में एक सत्य होता है किन्तु वह सत्य अपने पिछले युग के सत्य पर निर्भर होता है और आनेवाले युगों के सत्य उन्नीस निकलते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि तुम इस गतिशील जीवन में जो कुछ सोच रहे हो वही चिरंतन सत्य है। जो छायावाद रीतिकाल की चिरंतन रूढ़ियों के विरुद्ध उठा था शीघ्र ही वह चिरंतन की खोज में डूबकर अपना प्राणवन्त भाग भूल गया था। उसकी शब्दावली नीरस हो चुकी थी। सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी के चिन्तन में परिवर्तन

देखते रहते नयन इन तारकों की ज्योति शाश्वत !
आज पग बढ़ते न अविरत !
याद अब आता न मधुवन
आज धुंधला हो गया है
निरस मेरा विगत जीवन,
मौत ! उनका गर्व भूला, प्राण ! उनकी दिशा विस्मृत !
आज पग बढ़ते न अविरत !
कामनाएं रह गयीं रे
और इच्छाएं पिघलकर
अश्रु बनकर बह गयीं रे,
सूखकर मुरझा गया है आज उनका मधुर स्वागत !
आज पग बढ़ते न अविरत !

—श्री रामनाथ सुमन

इस उलझन का अन्त कभी-कभी निराशा के रूप में भी होता है। और निराशा क्योंकि नये युग में व्यापक है हमें उससे मुंह नहीं मोड़ लेना चाहिए। निराशा के कारण होते हैं। टामस हार्डी के युग में क्रिश्चियन धर्म फैला हुआ था किन्तु वह आकस्मिक दुर्घटनाओं से आतंकित रहकर परमात्मा को विरोधी माना करता था ! क्योंकि उसे अपने समाज के बंधन में खोखलापन दिखाई देता था। निराशा का भी महत्त्व होता है। वह क्या मनुष्य है जो केवल यही कहता है कि निराशा कुछ है ही नहीं ? निराशा या तो अभाव से जन्म लेती है, प्रस्तुत को नगण्य मानती है या अप्रस्तुत की ओर गतिशीलता में बाधा आने से सिर उठाती है। कभी-कभी वह आत्म-संतोष की लहर भी बनती है। वस्तुस्थिति का सामना करने की शक्ति भी कभी-कभी उसमें से प्रस्फुटित होती है

विरह की स्वीकृति मिलन-अधिकार बन जाये !
कण्ठ भरा रुक गया है
प्राण ! अब गाया न जाता
गीत है मेरा अधूरा
भेद बतलाया न जाता,
एक है आशा यही तो—
तुम्हें छूकर मौन भी झंकार बन जाये !
विरह की स्वीकृति मिलन-अधिकार बन जाये !
मिट गये प्रासाद मेरे
कामनाएँ बुझ गयी हैं

वासना से दहकती सब
साधनाएँ बुझ गयी हैं
प्रतीक्षा है शेष इतनी—
तुम्हें पा श्मशान ही संसार बन जाये !
विरह की स्वीकृति मिलन अधिकार बन जाये !
संदेशे अब आ न पाते
तुम्हें कुछ बतला न पाते
हृदय का शाश्वत निमन्त्रण
मधु अब पहुँचा न पाते
एक ही अब सहारा है—
याद ही केवल तुम्हारी—प्यार बन जाय !
विरह की स्वीकृति मिलन-अधिकार बन जाये !

—डा० रामनाथ सुमन

इस विषय में अंचल अधिक प्रवीण है। उसकी वेदना में सम्भव कोई न कोई नया बीज अपना नाश करके नया अंकुर खिलाता हुआ प्राप्त हुआ करता है। उसके शब्दों में एक झकझोरती चाल मिलती है

मैं प्रभञ्जन से पिटे
तरुपात जैसी अनमनी हूँ
यह अचीन्ही-सी दिखाई
चितवनों को घेरती-सी
किस अजाने देश के जाने
पथिक को टेरती-सी
कौन कहता है—कहीं वह और है
इस ठौर ना रे !
खोजने उसको परे तू
प्राण के स्वर दूर जा रे !
कल्पना से भी न कम
होती बड़ी घनघोर दूरी
प्राण से बँधने न देती
प्राण की परिणति अधूरी
आज अपनी ही अपूरित
लालसा की मैं धनी हूँ

आज अंकुरित धरित्री-सी
अचेतन अनमनी हूँ
आज लगता है कि मैं
बढ़ते कुहासे की बनी हूँ।

—अंचल

प्राण से प्राण की मधुरी परिणति नहीं बनने देती कहता हुआ कवि व्यक्त करता है कि मैं तो अपनी ही अपूरित लालसा की बनी हूँ जो कि अपने ही हृदय म गड़ गई हूँ चुभ रही हूँ। धरित्री अंकुरित तो हो गई है किंतु अभी भी वह अचेतन और अनमनी है। ऐसा लगता है कि सब ओर एक बढ़ता हुआ कुहासा छा गया है वह कोई और नहीं स्वयं मैं हूँ। जिसे मन ढूढ रहा है अंचल उसे दूर का नहीं मानता परंतु उस तक पहुच नहीं पाता। क्यों ? क्योंकि उसकी प्रेरणा उस पत्त जैसी है जो कि प्रभंजन से पिटकर अनमना हो गया है। वह पत्ता अभी तक गिरा नहीं है। अभी तक जीवित भी है परंतु उसने एक बहुत बड़ा तूफान को झेला है। उसको इस आकस्मिक आघात ने पुरान विश्वासों से विचलित कर दिया है। वह उसकी आशा भी तो नहीं करता था किंतु जब वह आ ही गया तो उसने झेल तो डाला पर मन से वह अब अनमना हो गया है। अंचल की राह अजानी है तो क्या, उसका उसे अभिमान है और अभिमान भी कैसा कि अनमना

म अजानी राह के
अभिमान जैसी अनमनी हूँ।
किस तिरस्कृत यातना से
दर्प का सुकुमार खंडहर
आज मिटने और बनने
की क्रिया का सेतु बनकर
हार जाता आज अपने
ही भयानक मौन मे फिर
मरण-सीमा रेख पर जो
पराजित साँस निरंतर
सुन रहा है आज अपने
व्याप्त तम का भ्रात क्रदन
दूर तक फली असंगति
के धुएँ का क्षुब्ध गजन
म विफलता के इसी असले
अंचलके से घनी हूँ।

—अंचल

ऐसी तिरस्कृत यातना है कि दर्द का सुकुमार खंडहर, अर्थात् वह महल जो है तो बड़ा प्यारा और कोमल परन्तु अब खंडहर हो गया है मिटने और बनने की क्रिया में एक पुनरावृत्ति-सा रह गया है, विनाश और निर्माण के दोनों छोरों में एक तारतम्य बाँध देना चाहता है। आज वह नये कल्पलोक के कारण भग्न सब शून्याकार शून्य-सा गया है और तब उस भग्न मौन स्वयं ही रुदन करने लगता है। उसका व्याप्त अधिकार मातमपुर्सी करके उसके कानों में गूँज रहा है। मरण की सीमा पर खानें गिर गिरकर टूटती जा रही हैं। असफलता का धुआँ फैलकर क्षुब्ध गर्जन कर रहा है। ऐसी निष्फलता के बबूलके में एक जलन है एक दाह है एक तड़पन की भस्म करने की शक्ति है और आज कवि की चेतना अनुभव करती है वह इसी व्याप्त दाह में से जन्म ले रही है।

ऐसे दाह की कसक क्या न कहलाएगा ? उसका अनुभव करना क्या सहज है ? क्या यह अनुभूति नये विन्यासों को आधार नहीं देती ? कल्पना की लंबी उड़ानों के माध्यम से नया कवि जो चकाचौंध उत्पन्न करता है अपनी प्राप्ति को ही इतनी गहराई देता है यह नये काव्य का एक विशेष सौष्ठव है। अमवीर भारती की प्रिया लगी है और उसके दोनों पाव उसकी गोद में रख हैं। कवि उन पावों के माध्यम से अपना प्राप्ति की घी का वर्णन करता है और अपने विन्यासों को फिर से झकझोरना चाहता है

ये शरद के चाँद-से उजले धुले-से पाँव मेरी गोद में!
ये लहर पर नाचते ताजे कमल की छाँव मेरी गोद में
दो बड़े मासूम बादल देवताओं से लगाते दाँव मेरी गोद में!
रसमसाती धूप का ढलता पहर
ये हवाएँ शाम की झुक-झूमकर बिखरा गई
रोशनी-से फूल हरसिंगार से
प्यार घायल साँप-सा लेता लहर
अर्चना की धूप-सी तुम गोद में लहरा गई
ज्यों झरे कसर तितलियों के परों की मार से
सोनजूही की पंखुरियों पर पले ये दो मदन के बान मेरी गोद में
हो गये बेहोश दो नाजुक तूफान मृदुल मेरी गोद में!
ज्यों प्रलय की लोरियों की बाँह में झिलमिला कर
और जला कर तन शमाएँ दो
अब शलभ की गोद में आराम से सोयी हुई
या फरिश्तों के परों की छाँह में दुबकी हुई सहमी हुई हों पूर्णिमाएँ दो
देवता के वक्ष से धोई हुई

पुष्पनों की पाँखुरी के दो जवान गुलाब मेरी गोद में
सात रंगों की महावर से रचे महताब मेरी गोद में!

×

य लहरों में सिसकते, स्वग के दो गान मेरी गोद में
रश्मि पखों पर अभी उतरे हुए वरदान मेरी गोद में!

—धर्मवीर भारती

कुछ आलोचकों का मत है कि यह वणन प्रयोगवाद के अन्तर्गत आता है। ऐसा तो कुछ नहीं क्योंकि प्रयोगवाद है ही क्या? भारती की कविता म हम एक बड़े चेतन हृदय की शक्तियाँ काम करती दिखाई दे रही हैं जिसने चरणों की छविमाया को तो माध्यममात्र बनाया है अन्यथा उसन रूप की रसवती धारा की सजीव प्रतिमाए एक के बाद एक खड़ी कर देने की चेष्टा की है। अपने यौवन के सारे रूप की उफान को यह अपनी पक्तियों म समेट कर ले आया है। इस लिए अतीव विह्वलता अपनी तृप्ति में अपनी ग्लानि का विसजन करती है और गति की चपलता कुछ क्षण ठहर जाती है, गति के प्रतीक चरणों की लावण्यमयी सम्मोहिनी कवि की तन्मयता से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है इसीलिए यह वक्षतामा से दोष लगानेवाली स्पर्धा को भी जन्म देती है। यह देखने योग्य है कि नारी के चरणों को इतना वदनीय हमारे प्राचीन आचार्य नहीं बना पाए थे। इस कविता म धरती की दोगरेखाली गध तो मिलती है इसमें बरसात की हहर नहीं मिलती। इसम अपना महत्त्व न सुप्त है, न मुखर जसा कि अन्यत्र हम 'मैं' को ऊपर देखते हैं

मैं तुम्हारी वन्दना का एक स्वर हूँ
ज्योति की चिर साधना का रस अमर हूँ
पक से निकला खिला हूँ म कमल-सा
पास रहा स्मृति में किसीकी हिम-उपल-सा
साँवला जो प्राण नसनों को धनल-सा
रूप के उस कल्पना-वन का भ्रमर हूँ
शून्य में विभ्रान्त हूँ म ज्योति गुजन
घर जिसको कर रहा मधुमास क्रन्दन
रम्य मेरा है हृदय आनन्द नन्दन
दूर प्राणों तक घुमा मैं प्रम-शर हूँ,
मैं तुम्हारी वन्दना का एक स्वर हूँ

—भारतीभूषण सिंह

यद्यपि यह सत्ता प्रम की स्वीकृति है किन्तु प्रेम का भार बनकर उसने जीवन की असाध्य घुटन और वेदना को ही प्रश्रय दे दिया है। रूप उसके चारों ओर है फिर भी भ्रम के निवारण नहीं हुआ है और यह हाल तो तब है जब वह ज्योति की चिरंतन साधना

का अमर फल है।

प्रेम का तूफान जब आहों में मचल-मचल पड़ता है जब अभिमान का अनमूदा के रूप में पिघल पिघल उठता है तब जीवन के पीछे मरण को लगाकर गिनने वाला नित्य ही दिन गिना करता है। जीवन के लोभी, तुमने मुझे पहचाना नहीं!

(हंसकुमार तिवारी)

जीवन की पहचान करनेवाला नया कवि यह मानता है कि जीवन का महत्व उसके गीत में है। उसका गीत उसके बड़े ही कोमल अंश से जन्मा है। गीत पर उसे बड़ा अभिमान है बल्कि बहुत कुछ जीवन की शक्ति तो वह अपने गीत में ही खोजता है क्योंकि उसका और कोई सहारा ही नहीं है। उसने बहुधा अपने गीत को शाश्वत कहा है, क्योंकि जीवन की दुर्दमनीय नश्वरता में समूह में भाव माध्यम से एक से दूसरे तक पहुंचनेवाला उसका गीत ही है। इस गीत को सगुण का सहारा नहीं न निर्गुण की भांति इसमें केवल दर्शन का प्रतिपादन है बल्कि इसमें शून्य का भी चित्तना महा है जितनी कि इसमें 'स्व' की अभिव्यक्ति है। इसीलिए उसे अपने गीतों से प्यार हो गया है। गीत उसकी रूपचेतना के वाहक हैं, वे हैं जिनके आसरे से वह अपनी नौका को खे रहा है। कवि कहता है

गुनगुनाता हूँ निरन्तर इसलिए
शेष गीतों से मुझे अब प्यार है।

उलझनें पथ में अनेकों बार आयीं हार उनसे थी कभी खायी नहीं
पर कितनी बार काँटों पर छिले, आह भूल पर थी कभी आयी नहीं,
किन्तु ज्योंही पग बढ़ पाया यहाँ
दूर हो रमणीय ये संसार है।

विश्व के सूखे हुए पतझार में, झूम जो चहुँ ओर हरियाली रही,
है न मादक प्यास उससे बुझ सकी रिक्त ही जग की सदा प्याली रही
फूल कितना ही सुधा छवि हो लिए
किन्तु झड़ने को हुआ विस्तार है।

स्वप्न-सी मुस्कान आती है कभी क्योंकि जग इतना हुआ विख्यात है
है दिवाकर भी भटकता रात दिन, क्योंकि वह भी ताप से आक्रांत है
घूमते ही बीत उसको युग गये
किन्तु कर पाया न निज उपचार है।

मुस्कराता है सदा कुछ देर को, दीप बुझने के निकट जब पहुँच जाता,
टूटने के कुछ तनिक पहले सदा, तार वीणा का मधुर-सा स्वर सुनाता,
पर मधुरता रह न पाती चार क्षण,
व्यर्थ सब बातें नहीं कुछ सार है।

मौन जो यह शांत नीलम नभ खड़ा, है न यद्यपि आज मुखरित शेष वाणी,
किन्तु निज ढाले दिशा यह कह रहा, क्रूर जग की क्रूरतम बीती कहानी
है सदा उपकार उसने जो किया,
यह दिया जग ने उसे प्रतिकार है।

देखकर मन आज चंचल हो उठा, किन्तु गीतों से सहारा पा रहा हूँ,
भावना को रूप माया का दिए, विश्व की बीहड़ डगर पर आ रहा हूँ,
है यही विश्वास ये जीवित रहेंगे,
इसलिए उर का हिला हर तार है।

—सुरेन्द्र सेठ

उलझनें आईं और बार-बार उनसे संघर्ष करना पड़ा। हार उनसे कभी नहीं खाई। काटों से पाँव छिल गए पर आह कभी नहीं भरी। किंतु यह अवश्य देखा कि यत्न पर इस संसार को दूर ही से रमणीय पाया। कितनी भी तृप्ति खोज डाली किंतु अतृप्ति ने कभी भी पल्ला नहीं छोड़ा। यहाँ तो निरंतर गति है गति है गति है उसको न कोई रोक पाया है न स्वयं ही रुक सका है। क्योंकि रूप टिका हुआ नहीं रह पाता। इसलिए सब कुछ निस्सार-सा लगता है। अब यदि कहीं सहारा है तो इन गीतों में है क्योंकि गीत इतने नश्वर नहीं हैं ये जीवित रहेंगे ये जीवित रहेंगे

कवि का विश्वास है कि वह अपनी कोमलतम कल्पनाओं को सहेज कर रखे। अपने भौतिक अस्तित्व में मनुष्य उतना सुन्दर कहाँ है जितना अपने भौतिक के गुणात्मक परिवर्तन के रूप में अपनी चेतना के रूप में ? उसके स्वप्न उसकी चेतना के दिए हुए दान हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने इस स्वप्न का चित्र उपस्थित किया है

चले आ रहे हैं सपने यों—
ज्यों रेतीले नीले-नीले, डूब रही किरणों से पीले
तट पर अविरल, महा उदधि के सांध्य ज्वार में
धूम मचाते, फेन उड़ाते,
दूर-दूर तक हंस-परों सी उज्ज्वल निर्मल क्षण-क्षण फेनिल
धूप धुली दीवार बनाते,
लहरों के रेले पर रेले उमड़े आते मन को अस्थिरता से विह्वल !

चले आ रहे हैं सपने यों—
लिये अंक में विद्युत की बालाएं चंचल
संग नाचती घुँघनियों के बजते छागल
सावन के घन-नील-गगन मे,
उमड़े, बढ़ चले आते ज्यों अलबेले कजरारे, बादल !
चले आ रहे हैं सपने यों—
गिरि प्रदेश में क्षण-क्षण पल-पल
होड़ किये मोटर की गति से दौड़ पड़ा करते हैं जैसे
एक दूसरे के पीछे से उभर आते
एक दूसरे की स्पर्धा मे बढ़ते आते शिखर हिमोज्ज्वल !

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

स्वप्न मनुष्य को आगे बढ़ाते हैं। क्रिया बाद म आती है पहले विचार आता है। अवश्य ही यह विचार किन्हीं विशेष रूप-क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है किंतु जब वह आता है तब इस जीवन में एक उद्भास-सा होता है अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव होने लगता है। उन स्वप्नों ने मनुष्य को निरीह से निरीह अवस्था म उसको आसरा दिया है। हमारे सारे अवतार मनुष्य के स्वप्नों के ही तो प्रतीक हैं जो मनुष्य की भावनाओं के कोमलतम होते जाने के साथ कोमलतम स्वरूप पकड़ते चले गए हैं। हमारे स्वप्न हमारे भविष्य-निर्माण की आधार-शिला हैं वे आनेवाली पीढ़ियों के स्वस्थ और सुखद कल्याण की पूर्वपीठिका हैं।

इसीलिए नये कवि-हृदय ने अपने प्रेम और वासना से भी ऊपर रूप की कल्पना को स्थान दिया है और वह मानता है कि यही है वह जो मनुष्य को सुंदरतर बनाएगा क्योंकि उसीका सम्बन्ध मनुष्य के 'मूलराग' से है, और यह 'राग' उसका सबसे धीरे परिवर्तित होनेवाला 'भाव' है। मनुष्य की बौद्धिकता उसकी चरम उन्नति नहीं वह तो बहुत तेजी से बदलनेवाली वस्तु है तभी कहा है

भावों का आवेग मान कर
लिखती जा तू गीत !
और गीत जिनमें अंकित हों
जीवन के उद्गार
वे उद्गार मुक्त मन को जो
कर दें कारागार
कारागार जहाँ फूलों के
बंधन से शृङ्गार
वह शृङ्गार कि जो युग-युग से

कवियों का आधार
वह आधार कि जिसपर आश्रित
किसी हार की जीत!

×

जिसकी उंगली में है मेरा
किया पंथ निर्माण
वह निर्माण कि चाह रहा जो
जग-जग का कल्याण
वह कल्याण छिपा है जिसमें
मौन विगम बलिदान
कर बलिदान जिसे समझा है
सबने ही अवसान
पर जिसपर अवलंबित मेरे
सपने आशातीत!

—शान्ति

अत हम कह सकते हैं कि नये कवि का स्वर मूलत: आशावादी है और इसीलिए वह आनेवाले युग की संवेदना का बीज पृथ्वी पर डाल सका है। उसने इस बार मधुमाखियों की भांति मधु एकत्र किया है क्योंकि उसे बहुत विशाल और विस्तृत उपवन में अलग अलग तरह के फूलों के चक्कर काटने पड़े हैं।

भोर से साझ तक

प्रकृति ने नये कवि को नये प्रकार की प्रेरणा दी है। यह तो हम महाकवि भट्टि में भी बहते जल में पिघलती किरणों का प्रकाश मिल जाता है और मध्यकालीन कविता में भी ऐसे नये प्रकार के वर्णन मिल जाते हैं किन्तु नये युग को छायावाद की विरासत मिली। छायावादी युग में प्रकृति अधिकाधिक अपने मानवीय स्वरूप में उतरी और कहीं-कहीं उसके प्रति विस्मयमूलक भावना ने भी अपना प्रदर्शन किया। अन्यत्र उसने 'महान' की छाया अपनी रंगीनी की झलक देती रही और कहीं उसमें विलास के बीज भी पलते हुए दिखाई दिए।

नये कवि ने प्रकृति के सारे शास्त्रीय वर्णनों के पन्नों को अपने भीतर समेटा। यही नहीं उसकी कलम ने अनेक स्याहियों में अपना मह रंगा और अपने मन की भावनाओं को उसने अनेक रूप दिए।

सबसे विशेष बात जो हमें मिलती है, वह यह नहीं है कि यहाँ केवल प्रकृति चित्रों का वैविध्य मिलता है परन्तु वह यह है कि यहाँ हम प्रकृति से सबसे अधिक सम्बन्ध दिखाई देता है। और प्रायः ये कवि नगरवासी हैं। फिर भी आज की यांत्रिक सभ्यता ने उन्हें अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रकृति के समीप जाने की प्रेरणा दी है।

उनको हम प्रकृति में अपनी स्वप्नवती सजना को पल्लवित करते देखते हैं उन्हें हम प्रकृति में न केवल छवि ढूँढ़ते देखते हैं वरन् हम उनके मन की विभिन्न परिस्थितियों को प्रकृति के आँचल में ही बुनते हुए देखते हैं। चेतना के रन्ध्रों में जैसे एक ही ध्वनि मिलती है कि हमें अपने को अधिक से अधिक व्यापक बनाना है। प्रकृति के वैविध्य में मनुष्य का अपना सान्निध्य बनाना उसके अहम् की उथल-पुथल तो दिखाता ही है, किन्तु हम उसमें उसकी आशा निराशा सुख-दुख संवेदना सबको ही मुखरित या मौन होते हुए पाते हैं। प्रतीकों के संयोजन में जितना वैचित्र्य नये कवि को प्रकृति के माध्यम ने दिया है उतना अन्य किसीने नहीं। मन के भीतरी स्तरों की वास्तविक परिस्थिति का भी वर्णन करने के लिए वह प्रकृति की ओर झुकता हुआ दिखाई देता है। उसको हम भोर से साँझ तक प्रकृति के साथ पाते हैं। रात बीतती जा रही है

बीतती अब जा रही है रात
जाग री अब जाग!

पीड़ा आशंका शोक त्याग
हल्के हो, पहने रूपराग
सब वातावरण का जगमगाव
हो गये सुनहले लाल-लाल

—केदारनाथ अग्रवाल

प्रभात क्या हुआ तारे तो उदास हुए ही किंतु पक्षियों ने कलरव प्रारंभ कर दिया। वह स्वर सूर्य के विलास की भांति उजागर होता हुआ फैल गया और अनायास ही उसमें लय और छन्द आकर भर गए। उसने कवि के हृदय में झंकार भर दी, वह स्फुरित होने लगा। कवि विस्मय से कहता है कि देखो देखो आकाश से पृथ्वीतल तक कितना व्यापक प्रसार है! और अम्बर नीलम-सा आर-पार प्रगुम्फ दिखाई देता है। क्योंकि गंगाजल और कछार में उसका चित्र उतर गया है। और वे अपने विषाद को त्यागकर नई शोभा से खिल उठे हैं क्योंकि नये भरण का आकाश में जन्म हो रहा है। प्रभात में नये जीवन का जन्म देखकर किसपर सुषमा की शोभा न खिल उठेगी!

प्रभात केवल बाह्य वर्णनों में ही सीमित नहीं है। वह तो सर्वत्र छा गया है।

जिस प्रकार नदी में आकाश खो जाता है उसी प्रकार कवि भी अपनी प्रिया की बाहुओं में आकर अपनी सीमाएं खो देता है। तब गीत ही प्रभात बन जाता है, मानव के संगीत में ही जागरण प्रतिध्वनित होने लगता है

आज सिंधु-कन्या की गोदी
में विराट आकाश सो गया
आज तुम्हारे बाहु-बंध में
मैं अनंत निस्सीम हो गया।

×

मुस्काकर आशिष दी तुमने
गीत अमर हो जग में तेरा,
तू गाये तो सकल लोक में
नवयुग का हो जाय सवेरा।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

प्रात की रश्मि से जागरण छनने लगा मानो आकाश और हरीतिमा के सघन जाल से वे किरणें फूट फूटकर निकलने लगीं। आकाश एक श्यामल भूमि की भांति दिखाई देने लगा। उसपर पड़े हुए नक्षत्र ओस-कणों की भांति डबडबाते-से कुछ क्षणों के लिए कांपते-से दिखाई देने लगे। धूल पर जब आलोक का रंग पड़ने लगा और अंधकार की गहरी छायाएं दूर होने लगीं, तब फूलों पर लाज भरी मुस्कान हंसने लगी। चारों ओर प्रभात निस्तब्धता छाई थी। यही तो प्रभात की तन्मयता की शीतल बेला थी। विश्व-छवि के सलोने होंठों को चूमता हुआ मौन अपने भीतर

संगीतात्मकता को भरने लगा मानो मौन ही अपने श्रवण-मनहर सौन्दर्य नाद को धीरे धीरे गुंजाने लगा। यह समस्त दृश्य तो ऐसा है मानो अर्चना स्वयं ही देवता के चरणों पर चढ़ रही हो!

प्राप्त की रश्मि से छन रहा जागरण
व्योम का हर अश्रुत बन गया ओसकण,
ज्योति का रंग चढ़ने लगा धूल पर
लाज भी मुस्कराहट बनी फूल पर
कूल से मिल रही बावरी हो लहर
घूमता विश्वछवि के सलोने अधर
मौन भी कर रहा रागिणी को वरण
अर्चना चढ़ रही देवता के चरण।

—भगवद्दत्त मिश्र

प्रभात ने नये कवि को जब मिलन की तृप्ति दी है तब उसे इसी धूल में स्वर्ग दिखाई दिया है और स्वर्ग की छलना को उसने तिरस्कार किया है। वह असल में मिलन की तृप्ति है या नये आलोक की यह तो स्पष्ट नहीं होता किन्तु किरणों का हिन्दोल अवश्य मन को झुलाने लगता है। विश्व को वृन्त कहना व्यापक दृष्टि का सूचक है

किरणों का हिन्दोल मिलन की भरी रही है झूल
विश्व-वृन्त पर अन्तहीन खिल उठा मिलन का फूल।
धूल आज बन गई स्वर्ग है और स्वर्ग है धूल
अब न अभाव अतृप्ति कहीं है कहीं न मन की भूल।
शाल हृदय में समा सका जो नहीं मिलन का मोद
वही सरित बन फूट पड़ा है आज विजन की गोद।
ताली बजा तरंगें करतीं उठ-उठ करके लास
मिलन बाँसुरी आज बज रही है प्राणों के पास।

—हरिचन्द्रदेव वर्मा चातक

इसी नवीन जागरण की चेतना से पुलककर नया कवि कहता है

मृत्यु से डरता नहीं हूँ
और जीवन प्यार करता हूँ
तोड़ देतीं साधनाएं
मौत की माया उमड़ कर,
किंतु मैं कायर नहीं हूँ
जड़ अशिव का घर नहीं हूँ
ठोकरें सहता रहूँ जो
राह का पत्थर नहीं हूँ

डाल डाल जीवन की पखुरियाँ
उड़ चले नूतन विचारों के चपल खग—
देख स्वर्ण विहान !

—शारदचन्द्र मिश्र

यह तो युग-संघर्ष की भावना व्यक्त करनेवाला विचार है। प्रभात में जागरण की भैरियां सुनना इस दौर से पहले का एक आम रिवाज था। उस समय राष्ट्रीय संघर्ष प्रमुख था। इस संघर्ष में दो पक्ष थे। एक वह जो कि प्रचार के स्तर पर था। दूसरा वह जो छायावादी शैली में से आया था। इस दूसरे पक्ष के कवियों में हम सौंदर्य के प्रति तो आसक्ति छायावादियों की सी ही मिलती है किन्तु वे प्रिया का गीत गाते समय भी क्रांति को नहीं भूला करते थे।

प्रभाती में सुधीन्द्र ने ऐसा ही उद्बोधन प्रस्तुत किया है। यह कविता जनता की भीड़ों के लिए लिखी गई थी क्योंकि इसका उद्देश्य ऐसा ही था, पर शायद बसी यह है नहीं

जाग ओ मधुवर्षिणी !
रसरंगिणी ! अब गा प्रभाती
सुमन शय्या पर सुकोमल
रात के भुजबंध बिखरे
देख ज्वाला कल्पना के
स्वप्न-पट के चित्र सिहरे
अब न और मदालसा की
किंकिणी है झनझनाती।

×

अब धमनियों में प्रकृति की
फलती है ज्योति धारा
पहन लो उसने हृदय पर
रश्मि माला तिमिरहारा
आ रही है आरती ले
क्रांति मंगल गीत गाती !
जाग वीणा वादिनी ! प्राची
बिना वीणा बजाती

—सुधीन्द्र

मधुवर्षिणी प्रभाती क्यों नहीं गाएगी ? अब मदालसा की किंकिणी नहीं बजती है ! प्रकृति की धमनियों में ज्योति धारा फैल रही है। क्रांति आरती-सी उतारती हुई मंगलगीत गाती चली आ रही है।

प्रभात की इस व्यापक गरिमा ने वर्ग-संघर्ष के चित्रण में तो बहुत ही अस्तित्व बनाया है किन्तु संध्या के वर्णनों में प्रभात से भेद रहा है। संध्या में हम यह उजागर स्वर प्रायः ही नहीं मिलते बल्कि छायावादी परम्पराओं और अभिव्यक्तियों को अधिक प्रश्रय मिलता है।

और संध्या की शीतल छाया जो दिन की जगमग के बाद आती है वैसे तो वह स्वतः से ही मनहरण होती है परन्तु नये कवियों ने अपना बहुत कुछ उसपर उड़ेल दिया है। प्रायः ही संध्या के बहुत सुन्दर चित्र मिलते हैं। उनमें हम विभिन्न स्वर सुनाई देते हैं।

साँझ स्वप्निल है साँझ बोझिल है साँझ थकन है थकान की विस्मृति है। साँझ में प्यार है निराशा का अंधकार है साँझ में वेदना में आशा का दीपक है साँझ में नये कवि का मन है साँझ में उसकी तल्लीनता है क्योंकि उसमें उसे अनेक प्रतीक मिलते हैं

प्राण संध्या झुक गई गिरि ग्राम तरु पर
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद
मेरा प्यार पहली बार लो तुम !

×

औं' धरा की पीन पलकों पर विनिद्रित
एक सपने-सा मिलन का क्षण हमारा
स्नेह के कण प्रतीक्षा कर रहे हैं,
झुक न जाओ और देखो उस तरफ भी—

—बच्चन

संध्या का यह वर्णन कितना सजीव है! झुक गई में बच्चन ने कलम तोड़ दी है। झुकी और एक व्यापक निस्तब्धता छा गई। फिर कितनी सरल मनुहार है। प्राण! मानो यह आता हुआ अंधकार कवि के रोम रोम में स्निग्ध-सा उतर गया। दूर-दूर तक के गिरि ग्राम-तरु सब पर एक अतीन्द्रिय छाया-सी उतर आई। पर्वतों की गहरी रेखाएं दूर के आकाश-नील में धूमिल-सी होकर विलीन होने लगीं ग्राम पर उठते हुए धुएं और धूलि में उसकी तल्लीनता मुखर हो गई और सघन वृक्षों पर छाया हुआ कुहरा ऐसा लगने लगा मानो हरियावल के निर्झर से बरसने लगे। बच्चन की अबोध सरलता में कितनी हृदयग्राही शक्ति है इस समझने के लिए हृदय चाहिए। जिसने साँझ को गहरी आँखों से नहीं देखा वह क्या समझेगा कि बच्चन कितने कम शब्दों में कितनी विस्तृति को समेट लेने की शक्ति रखता है! यह वह बेला है जब सब ओर नीरवता छाती चली जा रही है और उस समय कवि कहता है कि देखो! क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद उठ रहा है सिंदूरी चाँद तो पूनम का चंदा ही हो सकता है गोल लाल हल्का-सा उसमें झरता प्रकाश और वह भी मदिम पुहार-सा! उस समय

हृदय की वासना बोलती है कि आज यह जो बेला आई है, इसमें तुम मेरा प्यार पहली बार स्वीकार करो ! कितना निस्पृह उद्दीपन है। पृथ्वी की पलकें भारी हो गई हैं। हमारे मिलन का क्षण एक सपने-सा उन पलकों पर उनींदा-सा छा गया है। मानो मिलन के क्षण का स्वप्न सारी वसुधा पर बिखरा हो गया है।

बच्चन अपने प्रकृति चित्रण में उस समय बहुत ही सफल हुआ है जब उसके हृदय के उद्गार स्तम्भित होते होते-से चपल और मुखर हो उठते हैं। यही कारण है कि आधुनिक कवियों में नरेन्द्र की भाँति उसीने आकर्षित करने की शक्ति पाई है।

चाँद हिन्दी कविता में पहले नहीं-सा आता था। आता भी था तो इतना उसका महत्त्व नहीं था। छायावादी कवियों ने उसकी शोभा को पहली बार उजागर किया था। नयी कविता ने तो उसके साथ अनेक चित्र मुखरित कर दिए

हौले-हौले की पदचाप
दबी पवन के साथ सुनाई पड़ती
सन्दिल अलकों का अटकाव
सुलझना फिर फिर साफ सुनाई पड़ता।
चुप सोई इस नयी चमेली के नीचे
नूपुर किसके मन्द लजीले बज उठते हैं
इतनी रात गए?
गहरी खुशबू केसर की
बढ़ी हुई मेंहदी के नीचे फँस रही है,
पीला पड़कर सूरज नीचे उतरा
या सहमा-सा चाँद उतरकर
उलझ गया है
फलों के झुरमुट में

—प्रफुल्ल गिरिजाकुमार

यहाँ यह निश्चय नहीं होता कि यह सूरज है या चाँद? मुझे तो यह चाँद ही लगता है। क्योंकि अगर चमेली चुप सोई है तो क्या साँझ होने के पहले ही सो जाएगी? अभी तो सूरज उतरा ही है न कि क्षितिज के पार चला गया है। और उतरा सूरज तो उलझता नहीं, ढलता है। हो सकता है प्रफुल्ल गिरिजाकुमार ने भी भवितीचरण गुप्त की सखि, नील नभस्सर से उतरा यह हंस अहा तिरता तिरता! वाली भूल की हो! परन्तु ऐसा नहीं लगता क्योंकि सन्दिल अलकों के अटकाव का सुलझना भी तो साफ सुनाई पड़ रहा है? ऐसी कविताएँ रात की सुकुमारता या साँझ की मलिनता का आभास नहीं देतीं। बाह्य चित्रण पर अधिक जोर देने पर भी यहाँ मानसिक उलझन और अव्यवस्था ही अधिक प्रकट होती है। यह भी नये युग का एक स्वर है। इसे प्रयोगवाद कहा जा सकता है क्योंकि इसमें प्रयोग के लिए प्रयोग किया गया है।

साफ कहा है कि रात इतनी बीत गई है फिर सूरज कहां से उतर आया ? किन्तु फिर भी इस कविता म एक बात है और वह है इनकी निस्तब्ध गध जो घ्राण को तो तृप्त करती ही है।

कुछ पुराने ढग का वणनात्मक शली म सध्या का वणन करते हुए एक कवि अनेक उपमाए प्रस्तुत करता है किन्तु उसका बाहुल्य द्वारा अर्पित वचित्र्य खटकता नही

चली चूनर व्योम मे सध्या उड़ाती
मुग्ध मन से प्रणय के यह गीत गाती
और द्वाराचार की तयारियाँ कर
निशा आरति की जलाये दीप आती।

यज्ञ म सहयोग देने को निलय भी
आज प्रस्तुत हाथ जोड़े सर झकाय
रजत किरणें दिइक जग म मुग्ध मन से
शुभ्र अगणित रत्न कण नभ ने बिछाय।

नव वसन्ती मलय भी कुछ मन्द गति से
चल पड़ उस ओर अम्बर के जहाँ पर
नववधू ऊषा खड़ी थी विदा के हित
दिव्य रथ नव सप्त अश्वों का सजाकर।

भूम शतदल भी उठा बारात लखकर
किया स्वागत प्रम म उन्मत्त होकर
मग्न सरिता भी पुलक कर कसमसाई,
प्रम का आवग छूना फिर लहर कर।

प्रकृति प्राङ्गण म प्रणय के गीत गूजे
उपवनों में बुलबुलें भी चहचहाई
सभी तरुगण वदल वल्कल चीर अपने
टोलियाँ लग वृन्द की उड़ आज धाई।

आज स्वागत मुग्ध मन से सभी करते
उपवनों की भट प्रति उपहार सुदर।
पुष्पगण मे दिइक सौरभ जगत भर में,
गूथ डाले रश्मियों के तार सुन्दर।

किसलयों ने भी सवारा साज अपना,
प्रकृति सजती मुग्ध मन से राज अपना,
गर्विता मुग्धा अधीरा किन्तु क्यों है
जब बढ़ाये प्रिय मिलन को हाथ अपना।

कान्तारों में लतायें मगन मन में मत्त झूमीं
सभी से अभिसार करती भ्रमर टोली खूब घूमीं
वृद्ध वट की रगों में भी सुप्त यौवन आज जागा
जब लता को परख कर स पूर्व गत अनुराग जागा।

आज पुलकित सृष्टि का प्रत्येक कण है
प्रकृति प्रिय के मिलन को आबद्ध प्रण है
साथ मन में बसी कब से अपना की
प्रार्थना प्यासी खड़ी अभ्यर्थना की।

पर मिलन में विरह ने भी जन्म पाया,
सुख में कटु वेदना का अंग पाया।
वासना स निरत कैसी साधना वह ?
स्वार्थ से जो हीन कैसी भावना वह ?

—सत्यव्रत मिश्र

सत्यव्रत मिश्र के वर्णन म एक गुण विशेष है वह है प्रसाद। और अंत का प्रश्न उठाकर उसने मन को नया आश्वासन द दिया है।

किंतु संध्या अधिकतर घिर आते अंधकार के वातावरण के कारण एक उदासी पदा करती है। और कवि को लंबी होती हुई छायाओं में व्यथा का प्रसार दिखाई देने लगता है। अपना मन सूर्य सा जाना गया था नितांत भास्कर दूसरों को अपने आकर्षण से बांधनेवाला आलोकित करनेवाला ग्रह उपग्रहों के यथावधि महान भ्रमण का नियामक! और पारिजात वन म घूमते मांधाता की भांति वह स्वर्ग के कल्पवृक्षों के पास था, जबकि अकस्मात् ही वह पतित हो गया? पतन हुआ स्नेह के अभाव में। अभाव का जन्म उसकी अनुभूति म होता है, वह प्रेम के क्षेत्र में शायद होता नहीं

सांझ घिरती आ रही लेकर उदासी
तरु-लता की बढ़ रही छाया व्यथा-सी,
धूप-सा मन डूबता तम सिंधु में क्यों?
क्यों न तुम मुस्कान बन उमगो उषा-सी,

×

तुम मुझे दो साथ जीवन भर सुनयने!
म तुम्हें सम्पूर्णता का सार दूंगा!

×

तुम मुझे दो अमरता अन्तर, सुनयने!
मैं तुम्हें पावन मिलन त्यौहार दूंगा!

×

क्या लगे मन इन पुराने खडहरों में
पांव उठते ही नहीं हैं इन पथों में!

×

तुम मिलो जो साथ विधि से बात कर लूं
नव सुहागिन यह कुंवारी रात कर लूं।
तुम मुझे दो कल्पना का वर सुनयने!
मैं तुम्हें अनुभूति का संसार दूंगा
तुम मुझे दो प्रेरणा के स्वर सुनयने!
मैं तुम्हें नवगीति का उपहार दूंगा।

—रामनाथ राव

सुनयना के लिए अनेक आवाहन हैं किन्तु सब इसीलिए न कि सन्ध्या हो गई और मन डूबने लगा? सुनयना प्रेरणा का स्वर दे तो कवि नवगीति का उपहार दे! दे न दे सुनयना हो जाने। हम तो कवि की अभिव्यक्ति में सचाई पा रहे हैं, सन्ध्या की उदासी का करुण स्वर स्पष्ट होता जा रहा है।

सन्ध्या का तो प्रेम से बड़ा गहरा संबंध है। कहते हैं सन्ध्या में हर राग बढ़ता है अतः सावधान रहना चाहिए। फिर प्रेम का भी बढ़े तो आश्चर्य ही क्या है? नरेन्द्र की सन्ध्या अकेली नहीं आती। वह तो गृहिणियों के लिए धनधान्य लेकर आती है। गोधूलि दिखाई देती है। उस समय शायद कहीं क्षितिज पर मिटता हुआ धूलि का अकेला बादल दीख जाए तो कौन जाने प्रिया को प्रवासी का स्मरण न हो जाएगा। यह प्रवासी तो अपना है घरेलू है स्वजन है। उसके लिए तो चिंतित होना सहज और स्वाभाविक ही है

गृहिणियों के हेतु ले
धनधान्य आती
हो नगर की ओर जब
गोधूलि बेला
देख पाओ यदि कदाचित्
क्षितिज तट पर
कहीं मिटता धूलि का
बादल अकेला
सुधि न लाना इस प्रवासी चिर पथिक की
व्यर्थ भर लाना न लोचन!
फिर पधारें बुझ जाए
अब दिन की चिता भी

कान्तारों में लतायें मग्न मन में मत्त झूमीं
समी से अभिसार करती भ्रमर टोली खूब घूमीं
वृद्ध वट की रगों में भी सुप्त यौवन आज जागा
जब लता को परछ कर से पूर्व गत अनुराग जागा।
आज पुलकित सृष्टि का प्रत्येक कण है
प्रकृति प्रिय के मिलन को आबद्ध प्रण है
साथ मन में दबी कब से अर्चना को
प्रार्थना प्यासी खड़ी अभ्यर्थना को।
पर मिलन म विरह ने भी जन्म पाया,
सुख ने कटु वेदना का दण्ड पाया।
वासना से निरत कसी साधना वह ?
स्वार्थ से जो हीन कसी भावना वह ?

—सत्यव्रत मिश्र

सत्यव्रत मिश्र के वर्णन म एक गुण-विशेष है वह है प्रसाद। और अंत का प्रश्न उठाकर उसने मन को नया आश्वासन द दिया है।

किंतु सध्या अधिकतर घिर आते अधकार के वातावरण के कारण एक उदासी पदा करती है। और कवि को लंबी होती हुई छायायों म व्यथा का प्रसार दिखाई देने लगता है। अपना मन सूर्य-सा जाना गया था नितांत भास्कर, दूसरों को अपने आकर्षण से बांधनेवाला आलोकित करनेवाला, ग्रह उपग्रहों के अद्यावधि महान भ्रमण का नियामक! और पारिजात वन म घूमते मांधाता की भांति वह स्वर्ग में कल्पवृक्षों के पास था जबकि अकस्मात् ही वह पतित हो गया? पतन हुआ स्नेह के अभाव में। अभाव का जन्म उसकी अनुभूति म होता है वह प्रेम के क्षेत्र में पामर होता नहीं

साँझ घिरती आ रही लेकर उदासी
तरु-लता की बढ़ रही छाया व्यथा-सी
धूप-सा मन डूबता तम सिंधु में क्यों?
क्यों न तुम मुस्कान बन उमंगो उषा-सी,

×

तुम मुझे दो साथ जीवन भर सुलोचन!
मैं तुम्हें संपूर्णता का सार दूँगा!

×

तुम मुझे दो कमरत अन्तर सुनयने!
मैं तुम्हें पावन मिलन त्यौहार दूँगा!

×

क्या लगे मन इन पुराने खँडहरों मे
पाँव उठते ही नहीं हैं इन पथों मे।

×

तुम मिलो जो साथ विधि से बात कर लूँ
नव सुहागिन यह कुँवारी रात कर लूँ।
तुम मुझे दो कल्पना का वर सुनयने !
म तुम्हें अनुभूति का ससार दूँगा,
तुम मुझे दो प्रेरणा के स्वर सुनयने !
मैं तुम्हें नवगीति का उपहार दूँगा।

—शंभुनाथ राव

सुनयना के लिए अनेक आवाहन हैं किंतु सब इसीलिए न कि सध्या हो गई और मन डूबने लगा? सुनयना प्रेरणा का स्वर दे तो कवि नवगीति का उपहार दे! दे न दे सुनयना ही जाने। हम तो कवि की अभिव्यक्ति म सचाई पा रहे हैं सध्या की उदासी का करुण स्वर स्पष्ट होता जा रहा है।

सध्या का तो प्रम से बडा गहरा सबंध है। कहते हैं सध्या मे हर रोग बढ़ता है अत सावधान रहना चाहिए। फिर प्रम का भी बढ़े तो आश्चर्य ही क्या है? नरेन्द्र की सध्या अकेली नही आती। वह तो गृहिणियों के लिए घनधान्य लेकर आती है। गोधूलि दिखाई देती है। उस समय शायद कहीं क्षितिज पर मिटता हुआ धूलि का अकेला बादल दीख जाए तो कौन जाने प्रिया को प्रवासी का स्मरण न हो जाएगा। यह प्रवासी तो अपना है घरेलू है, स्वजन है। उसके लिए तो चिंतित होना सहज और स्वाभाविक ही है

गृहिणियों के हेतु ले
घनधान्य आती
हो नगर की ओर जब
गोधूलि बेला
देख पाओ यदि कदाचित्
क्षितिज तट पर
कहीं मिटता धूलि का
बादल अकेला
सुधि न लाना इस प्रवासी चिर पथिक की
व्यथ भर लाना न लोचन!
फिर थमक बुझ जाय
जब दिन की चिता भी

अस्थिफूलों से खिलें जब
शून्य नभ में कुछ तारक
देख आओगी कदाचित्
तब किसी आतुर हृदय-सा
अश्रु सा कम्पित नयन में
व्योम में उन्मन लुब्धक[1]
याद जब आए तुम्हें मेरी सुनयने
व्यर्थ भर लाना न लोचन!

—नरेन्द्र

दिन भी चिता धधककर बुझती है। अस्थिफूलों की भांति शून्य नभ में कुछ के सार तारक दिखाई देने लगते हैं। उन्हींमें आतुर हृदय की भांति कांपती आंखों में आंसू-सा चमकता डबडबाया कोई सबसे चमकता हुआ तारा दीख जाए तो शायद फिर प्रवासी की याद न जग जाए? 'व्यर्थ भर लाना न लोचन' कहकर कवि ने कितनी करुणता खोल दी है। वैसे तो नरेन्द्र में कहीं कहीं कालिदास के यक्ष की सी तड़प है क्योंकि वह भी बड़े सुन्दर वातावरण की सृष्टि किया करता है जैसे अब मेरी प्रिया वीणा बजाते बजाते मूर्च्छना भूल गई होगी अब देहली पर फूल धर धर गिन रही होगी अब आधी रात में मेरी याद में धरती पर पड़ी रोती होगी अब अपने आंसू पोंछती होगी। कालिदास के वे चित्र आज भी सजीव हैं अपनी व्यावहारिकता के कारण। नरेन्द्र के चित्र भी बहुत सजीव हैं, अपनी वास्तविकता के कारण।

अंचल ने रात उजारी रात का सुन्दर चित्रण किया है। उसके वर्णन में प्रकृति की शोभा को प्रमुखता मिली है।

रात अकेली श्वेत मरालसी
मारुत चलती मन को छलती
जाग झिल्लियां गीत सुनातीं
अपने मन की बात बतातीं
मानस-सर में किरणों के संग
लहरें खेलीं रे!
रूपा हेली रे!
कौन दूर पर, अधरों में भर रंध्रों में स्वर
संवर-संवर फूंक रहा प्राणों की वंशी!
और उसीके रस भीने स्वर बहा वायु की लहरें लातीं!
(किसको कासी रात सुहाती!)

१ एक तारा जो सबसे ज्यादा डबडबाता दिखाई देता है।

हिलीं टहनियाँ फूल बिखरकर गिरे भूमि पर
दूर क्षितिज पर महक खिल रही शुभ्र चमेली रे
रूपा हेली रे ।

अभी न नीरव, खगकुल का रव !
'टिव् टिव' टिक टिक'—मुखरित मग दिक
धूमिल तारक-चल दृग तकते
टिमटिम करते, चुपके कहते
भाव भरी-सी विभावरी री
खड़ी खेत की दूर—मेड़ पर ! कौन पहेली ?
सुभग सघन वह घना छाँह से निकल अकेली रे
रूपा हेली रे ।

मुग्धमयूरी भोर चकोरी ताक रही हिरणों की टोली !
कान खड़े हैं, नयन बड़े हैं, नभ निधन है, निखरापन है
नई उमंगें भरे हृदय में, गीत भरे जीवन-अभिनय में
निकल निकल कर अपन घर से हिलमिल कर बठीं मस्तानी
तानसेन की कोकिल-तानी ग्राम-वासिनी—
ढोलक बजती—गीत गा रहीं सभी सहेली रे !
रूपा हेली रे !

—शतम

इसन ग्राम चित्र को उसीके अनुरूप लिया है।

नये कवि उपमाएं बड़ी विचित्र देते हैं। सितारे उनम से एक को खाड के बिखरे हुए बताशों-से दिखाई देते हैं जिन्हें प्रातःकाल होते ही किरण रूपी विहग चुन चुनकर खा जाएंगे। या तारे कपास के खेत म खिले हुए फूल हैं जिनको कि सवेरे किरणें बीन-बीनकर डलिया भरकर ले जाएगी। इस प्रकार के चित्र मन म एक हल्का फुलकापन पदा करते हैं

नभ में छिटके हुए सितारे
जसे दिये बिखेर खाँड के श्वेत बताशे
खा जायेंगे जिन्हें प्रात होते ही
किरन विहग चुन-चुनकर।
या कपास का पका खेत
खिल गये फूल
जिनको कि रश्मियाँ सुबह बीन ले जाएँगी
डलिया भर भर,

—कन्हैयालाल 'चञ्चरीक'

सारिका के प्रति कवि का हृदय मानवीय सहज संवेदना भी प्रकट करता है। वह उसके भी सूनपन की ओर आकर्षित होता है। सारिका का जीवन भी क्या इस लोक की अकेली नारी की भांति व्यतीत होता होगा ? ऐसे नीले नभ में वह क्यों चली गई है ? नयी वयस में ऐसा तप क्यों स्वीकार कर लिया ?

नील नभ की ओ मनोरम सारिका, लघु बाल !
क्यों तुझे भाया सुविस्तृत व्योम का अधिवास ?
क्यों यहाँ रहकर कभी होगा
तुझे प्रिय, ज्ञान ?
रूप की तेरे अदिर है
मोहिनी अविराम !
तू बनी है एक अवहेलित कुमारी दीन
अपदस्य सी जीवन बिताती छोड़ती उच्छ्वास
गात धुमस हो गया सौंदर्य शोभाहीन
जजरित विध्वान्त-सा है पुष्प मुख का हास !
सुंदरी ! नव वय न देखो,
क्या किया यह भूल ?
क्यों तुझे भाया यता तो
नील नभ का कूल ?

—केदारनाथ अग्रवाल

प्रकारांतर से प्राचीनकाल का कवि सारिका की जगह किसी देवी का वर्णन कर देता !

संध्या रुपहली बनी तो वह झमझमाते पात में आकाश को बांध उठी। तिमिर रूपी वृक्ष की काली शाखा पर वह पसर कर और हरएक नक्षत्र से खेलने लगी। यह संध्या नहीं है वह मनजानी फल गई चांदनी है। उसकी रश्मियां रात-रूपी वृक्ष के प्रत्येक पात से उलझ गई हैं

यह रुपहली छाँहवाली बेल
झमझमाते पात में बाँध हुए आकाश।
तिमिर तरु की स्याह डालों पर पसर कर
हर नक्षत्र की कुसुम कोमल
झिलमिलाहट से रही है खेल।
लहराता गगन से भूमि तक
जिनके रजत आलोक का विस्तार
रश्मियों के ये सुकोमल तार
उलझे रात के हर पात से सुकुमार।

इस धवल आकाश-लतिका में
झूलता सोलह पंखुरियों का
अमृतमय फूल
गंध से जिसकी दिगाए अंध
खोजती फिरतीं अजाने मूल से सम्बन्ध
वल्लरी निर्मूल—
फिर भी विकसता है फूल
विधि ने की नहीं है भूल।
हर जगह छाई हुई है
यह रुपहली छाँहवाली बेल।

—जगदीश गुप्त

चन्द्र अमृत का सोलह पंखुरियों का फूल है। कितनी सुन्दर कल्पना है! झूलता हुआ पुष्प आकाश की धवल उजली लता में झूलता धीरे धीरे सिहरता-सा फूल! वह गंधित-सा है, उसकी गंध चाँदनी बनकर फैल गई है सम्मोहन में नयन निमीलित किए हैं। किन्तु आकाश-वल्लरी का मूल कहाँ है? वह अघोमुख मानी जाने वाली सत्ता या अस्तित्वाभास थी न? फिर भी उसमें यह फूल कहाँ से निकल आया? हर जगह वही रुपहली छाँहवाली बेल फैली हुई है।

रात का यह वर्णन कितना सुरभित है? इसे हम उर्दू में भावुक-खयाली कह सकते हैं और इसमें हम दर्शन की एक पुरानी समस्या का भी इंगित मिलता है जो हमारे उपनिषदों जितनी प्राचीन है।

नया कवि आज की वेशभूषा का वर्णन करने में बहुधा ज्यादा दिलचस्पी लेने में कोई विशेषता नहीं पाता। उसे अभी तक प्राचीनकाल के वस्त्र ही अधिक मोहक लगते हैं किन्तु अब यह आवश्यक नहीं रहा

ढला आज का दिन कि बहती रही कुछ
बड़ी अनमनी-सी हवा दर्द से काँपती चीखती-सी
सुबह से जमे थे गगन पर कि जो घन
उड़े जा रहे हैं कहाँ? किस गुफा में?
हुआ स्वच्छ आकाश फिर भी हवा में
तिरे आ रहे बर्फ के तीर जैसे
कि जो कोट की खूब मोटी हुई-सी तहों
कालरों को नहीं मानते हैं।
चली आ रही है कि बेताब होकर
ठिठुर कर हुए हैं कि नीले अधर जो
उन्हें कुछ दबाकर अधरा लपेटे हुए साँझ सूना।

किसीने न जाना कहाँ सो गये हैं
अभी से कि ये दवान जो सूघते हैं
उठा नाक सौंधी सुगंधें सिचिन की
कि जो रोज आतीं लहरती पवन में।
उगा चाँद है पर मुझे लग रहा है
कि जैसे किसी एक माँ का अकेला
कमल-सा सलोना कहीं एक बालक
सहम सो गया है अजानी जगह में।

—नंद चतुर्वेदी

संध्या में नया कवि कुत्तों के न भूकने पर आश्चर्य करता है। सिचिन की गंध भी उन्हें आज बेताब नहीं कर रही है। रात भी और ऐसी ठंडी? चाँद किसी माँ का बिछुड़ा हुआ-सा बालक अजानी जगह में सहमकर सो गया है। नई कल्पना है। इस प्रकार की उपमाएं अभी जन-मानस में उतरी नहीं हैं और रूस के भविष्यवादी कवियों की-सी हैं किंतु उनमें भावपक्ष अवश्य है। मायकोवस्की की एक कविता में सड़क के लैम्प की रोशनी के कांपने का वर्णन है। जिसमें प्रकाश आगे बढ़कर पीछे ऐसे लौटता है जैसे कोई अपने गोरे पाँव पर से मोजा खींचकर उतार देता हो। इस कल्पना को समझने के लिए मस्तिष्क पर जोर देना पड़ता है। पर जो विद्यापति आदि जब दाड़िम पर शुक बिठाते हैं और लोग समझ लेते हैं तब यही कहा जा सकता है कि लोगों को सुन-सुनकर आदत हो गई है। प्रत्येक नया युग अपने साथ कुछ नये प्रतीक गढ़ता है और क्या न गढ़े! वह पिष्टपेषण क्या करे? हो सकता है कि प्रारंभ में वे चित्र सहज न हों किंतु उनका सहज न होना यदि भाषा की दुरूहता के कारण नहीं है तो हमें कवि को एकदम ठुकरा नहीं देना चाहिए। अन्यत्र कवि कहता है

घर में एकान्त है छिपा बैठा
है हवा खोल रही द्वार कहीं दूर धूप बैठा है—
कौन-सी पुतलियाँ चुपचाप अपरिचित-परिचित
तैरतीं पल पसारे बेरोक मन के इस ताल में,
ये निरुद्देश्य हो आती हैं चली जाती हैं
किसी उजाड़ की प्रतिध्वनि-सी।
और कुछ बात नहीं, कोई भी बात नहीं
पर मुझे नींद नहीं आती है।

—नेमिचन्द्र जैन

रात में सारे में कवि ने अभी तक एक भी शब्द नहीं कहा। केवल उसकी शिकायत है कि नींद नहीं आती है। क्यों नहीं आती है? क्योंकि कई यादें घुमड़ रही हैं। मन बड़ा खिन्न है। उसे अपनी ही निरुद्देश्य सत्ता खाए जा रही है

मुझे भी नींद नहीं आती है—
रात लम्बी है यह बेछोर, रात दुनिया की,
मैं ही यह भौंकता पागल कुत्ता
वह पड़ौसिन जवान, विधवा माँ
मैं ही यह बूढ़ा-सा किसान थका—
मैं हूँ बेचन मुझे नींद नहीं आती है
आज है तेज मेरे काँपते दिल की धड़कन
मेरे मन में नया तूफान सनसनाता है—
एक सागर नया लहराता है—
एक आवाज नयी आती है—
दुनिया की रात भी कट जायगी
मैं हूँ बेचन एक आशा से
मैं हूँ उन्मत्त मुझे नींद नहीं आती है

—नेमिचन्द्र जैन

आशा की बेचैनी है। कवि वास्तव म यह कहना चाहता है कि मैं क्रांतिकारी हूँ। दुनिया की बेचनी चूंकि मेरी बेचनी है इसलिए कि मैं उस महसूस करता हूँ और यो भी एक तूफान आनेवाला है जिसकी सरसराहट मैं सुनने लगा हूँ मैं बेचन हूँ—परन्तु वातावरण क्या है? उदास बोझल मत्यु का सा भारी। और कवि काँपने पत्ते-सा निरीह! इस चित्रण म जो कवि चाहता है उससे उलटा असर पड़ता है क्योंकि कवि म भावुकता का अभाव है बुद्धिवादी दृष्टिकोण है उससे लोगों ने कहा है कि ऐसी बातें लिखना उचित है बस वह लिख रहा है। परन्तु कवि कुछ भी चाहे कविता तो उसके हाथ से निकल चुकी। और वह एक आतंक का सृजन करने म सफल है, अत सफल है। इसके विपरीत

तुमने मुझे बुलाया है मैं आऊंगा—
मद न करना द्वार देर हो जाए तो
मेरी मंजिल पर है रवि की
धूप बदलियों की छाया
मैं इन दोनों की सीमाओं
के घर में भी सो आया
लेकिन मुझको तो छूना है
सीमा उस शृंगार की
जिसके लिये टूटती है हर
मूरत इस ससार की
×

मैं न रहूँ तब मेरे गीतों को सुनना—
जब कोई कोकिल जगल में गाये तो

×

मरुथल में चाँदनी तरती
लेकिन फूल नहीं खिलते
मन ने जिनको चाहा अक्सर
मन को वही नहीं मिलते
मेरा और तुम्हारा मिलना तो तय है
शंकित मत होना यदि जग बहकाये तो।

—रमानाथ अवस्थी

यहाँ भी कवि नये संसार की ओर अग्रसर है जब वह उस शृंगार की सीमा छूना चाहता है जिसके लिए इस संसार की हर सूरत टूटती है। उसकी अभिव्यक्ति में शून्य पहल बोलता है। वह अपने जीवित रहते में अपने गीत से अपनी सत्ता का मूल्य नहीं अधिक लगाता है क्योंकि वह जानता है कि जंगल की कोयल संगीत की माधुरी तो स्वयं भर सकती है। यद्यपि सारा सम्बोधन प्रिया से है किन्तु वास्तव में प्रिया प्रिया नहीं है नव युग की चेतना है। कवि स्वीकृत करता है कि जिस वेग से चेतना आवाहन दे रही है उस वेग से सत्ता का पहुँचना बन नहीं पा रहा है क्योंकि उसके मार्ग में अनेक लोभ हैं अनेक बाधाएँ हैं।

वह जानता है कि मरुस्थल में चाँदनी अर्थात् कल्पना तो फैलती है, परन्तु फूल अर्थात् नया जीवन नहीं मिलने का। वह मानता है कि मन जो चाहता है वही नहीं पा लेता। किन्तु उसका यह विश्वास है कि भाग्य तो उसे मिल जाएगा बल्कि वह यहाँ अपनी चेतना से कहता है कि कहीं बहक न जाना पथ बदल न देना!

नया कवि अतीत के प्रति बड़ा सजग हो गया है

दूर निशा के कुञ्जों में छिपकर
रजनीगंधा न पुकारो मुझको।
मादकता यों न भरो, गन्धअंध यों न करो
बरबस तुम तन-मन की चेतनता यों न हरो
यों न सुरभि की ज्वाला को सुलगा कर
लपटों के बीच उतारो मुझको।
स्वप्न विहग मैं पल भर कल्पना तरी लेकर
किरणों से खेल रहा नभ-सागर बीच उतर
दूर किसी तम गह्वर में छिपकर
सुधियों के तीर न मारो मुझको।
मौन सुरभि के बन्धन कसातीं तुम वन-वन

मेरे स्पन्दन केवल सुनता है नील गगन
मैं भी गलकर जलधारा बनता
प्रस्तर प्रतिमा न विचारो मुझको।

—शम्भूनाथ सिंह

वह किसी प्रकार भी बंधकर नहीं रहना चाहता। उसे वह सब प्रिय है जो सुन्दर है किन्तु वह नहीं चाहता कि सबके बीच में रहकर भी कुछ उसे प्राप्त नहीं हो। वह गलकर जलधारा बनने को तत्पर है प्रस्तर प्रतिमा बन जाने को नहीं।

शम्भूनाथसिंह की भीति बड़ी कोमल है। निशा के कुञ्जों में छिपकर रजनीगंधा का पुकारना अपना एक अलग छवि-सृष्टि करता है।

ऐसी छवि-सृष्टि को हम तब अधिक देख पाते हैं जब कवि जीवन और जगत् के सूक्ष्म रहस्यों को एकसाथ रखकर परखता है। दूर उसे एक अज्ञात नक्षत्र दिखाई देता है। वह नक्षत्र-ज्योति की एक लहर भर है। वह नीम के पत्तों के पीछे दिखाई दे रहा है जिसमें एक थकान है, एक हहर है। अर्थात् एक स्फुरण तो है किंतु उसमें कोई प्रेरणा नहीं है। ऐसी सिहर है क्या वह? ओ हे नक्षत्र! तू मुझे फिर से छू, शायद मेरे भीतर भी वह जागरित हो सके। यह जो धीमा-धीमा समीर है वह क्या तेरे स्पंदन की प्रभा से पूर्ण है? जीवन का कण किस अज्ञात आकाश में छिपा हुआ है जहां से तू चमक रहा है अपना प्रकाश प्रस्रवित कर रहा है

दूर धूसर नखत है वह
मधुर अविदित लहर है यह
नीम पत्तों में निराश्रित
थकित जीवन हहर है यह!
छू नखत फिर छू मुझे र
भर रही क्या सिहर है यह!
दूर किस अज्ञात नभ मे
है छिपा चिर दीप्त कन वह
आज जिसकी मधुर छाया
में किलकता नखत शिशु वह!
नखत शिशु वह फूल सोते—
हंस रहे किस अमर द्युति में?
विश्व का यह सुप्त कलरव
निहित है किस गुप्त गति में?
स्तब्ध निशि सन सन् समीरण
उर समय, सुनसान सुखमय!

स्पर्श कसा आज पुलकित
कर रहा कन कन असुम-लय !
आज विस्मृति व्योम में रे—
छिटकती क्या छवि लहर यह ?

—राजेन

और कवि को रोमांच-सा हो आता है। वह अपने उर को आश्चर्य और विस्मय के भय से पूर्ण पाता है। किन्तु यह विस्मय सुखदायी है। उस नक्षत्र से आती हुई किरणें जब कवि का स्पर्श करती हैं तब कवि के रोम रोम में आलोक की चेतना पलने लगती है वह वही है जोकि उस सुदूर के दीप्त कन में है उसमें स्वयं में है, समस्त सृष्टि में व्याप्त है।

रात्रि ने पुरुष को जबकि दर्शन की इस अनुभूति का दान दिया है वह नारी को दूसरी बार दूसरी ही अनुभूति से विभूषित करती है।

नारी की "योद्धाकर होने की तन्मयता जाग उठती है। उसके मन में अगाध स्नेह है। उसे अपने यौवन पर बड़ा विश्वास है। आज वह अपना एकाकीपन नहीं सहना चाहती। वह उस कारा को तोड़ देना चाहती है जिसने उसे अवरुद्ध कर लिया है। अब वह बंधनों को खोल देना चाहती है। आज नई साँसें पीने के लिए वह उच्चतर शिखर पर पहुँचकर नया जीवन अपने वक्ष में भर लेना चाहती है

आज रात भू पार करूँगी !
जाऊँगी मैं मलय शिखर पर
बालों से समीर पी लेने
भालों को सुरभित कर लेने
चितवन में गुरुता भर लेने
खिले फूल-सा यौवन लेकर
शूलों के वन पार करूँगी !
आज असह उठा एकाकीपन
तोड़ो मेरी कारा तोड़ो
घाव बन गया यह दुराव अब
खोलो, मेरे बंधन खोलो
एक बार जी भर कर निष्ठुर !
मैं मानव को प्यार करूँगी !

—विद्यावती कोकिल

उसने अपने उपास्य को चुनौती दी है कि वह तो जी भरकर मानव को प्यार करेगा। उसे रोकेगा ही कौन ! क्योंकि वह उपास्य तो सबसे परे हो गया है।

उठाई चरण धूलि कितने करों ने
चरण चिह्न फिर भी न देखे तुम्हारे।
किरण-जाल में सृष्टि की संपदा भर
कहीं ले न भागे चतुर अंशुमाली
न जाने कहाँ कौन-सी कोठरी में
धवल चारु मणियाँ गगन ने छिपा लीं
गिराय तिमिर-पट रही यामिनी पर
मधुर चित्र फिर भी न मने उतारे।

—शिवबहादुर सिंह

पुरुष उस संपदा को नहीं बटोर पा रहा है किन्तु नारी के लिए वह उतना कठिन नहीं। वह शृंगार में संतुष्ट है। पुरुष बाहर ढूंढता है नारी अपने भीतर। एक परावलंबन ढूंढता है दूसरा स्वावलंबन।

अब रात ढलने लगी है। अभी तक नींद नहीं आई है। थकान की धूलि अब उठी है जिसने यात्रा के काफिले के बहुत आगे जाने पर पथ को ढक लिया है। और कवि सोचता है कि मृत्यु के साथ भी मुझे आनंद की सांत्वना क्या आभासित होती है? संभवतः यह मिलन की तृप्ति है जो सन्ध्या पूर्ण-सी प्रतीत हुआ करती है

निशा के आखिरी पग में
नयन की नींद अकुलाती
पलक पर जिंदगी की
हार बन चिर मौन इठलाती।
मरण के पथ पर बजता
मिलन के गीत का दागल।
लहर के पार का सुंदर
सुहाना गीत रे पागल।
सुनहरी प्रेम डोरी में
बंधा आकाश से अम्बुधि
न जलने की जलधि को सुधि
न नभ को विरह की सुधि-बुधि
लहर के पार का सुंदर
सुहाना गीत रे पागल!

—विशुद्धेश्वरप्रसाद उपाध्याय 'निर्मर'

मृत्यु के पार भी कुछ है। वह इस सबसे अधिक सुंदर है जो यहाँ दीख रहा है। वहाँ का संगीत अधिक मोहक है। वहाँ न जलन है न विरह। वहाँ पूर्ण शांति है। वहाँ कोई हलचल नहीं है।

यह निस्तब्धता का भावप क्या है ? इसे तो हम प्राचीनकाल से ही सुनते चले आ रहे हैं किन्तु पहले इसके साथ काम का जंजाल और बंधा हुआ था, आज वह नहीं दीखता। काम का जाल समाज की उलझनों को सुलझाने के लिए था। क्या कवि इस समय उसे जाले के पार की सोच रहा है। वह इतना तो नहीं जानता कि उसकी कल्पना सत्य है या नहीं किन्तु उसने एक सत्य दुहराया है जो कि आसक्ति है लिप्त है, और वह है कि प्रेम की डोरी से आकाश और समुद्र तक बंधे हुए हैं।

इसी निस्तब्ध वातावरण में एक और स्वर उठता है। वह नारी की आसक्ति है। वह लोरी है वह मां की ममता को प्रदर्शित करती है। पूछता हुआ धीमा-सा स्वर

सो जा मेरे अतुल दुलारे !
सो जा मेरे दृग के तारे !
सरोवरों में कमल मुंद गये
तू भी पलक मूंद ले अपने।
आयेंगे निज चित्र बनाते
तेरे नयनों में सुख-सपने।
उनसे बातें जी भर करना
अद्भुत खेल खेलना प्यारे !
सो जा मेरे दृग के तारे !
पंछी निज नीड़ों में जाकर
अपनी मां के पास सो गये
कलरव उनका शांत हो गया
सुख सपनों में सभी खो गये।
तू भी चुप हो सो जा मुन्ने !
सो जा मेरे राजदुलारे !
सो जा मेरे दृग के तारे !
सूर्य देखता सपने घर में
नींद-मग्न है नभ-पलने पर
इसीलिए तो तारोंवाली
झिलमिल डाली मां ने चादर
मैं भी तुझे उढ़ा दूं लालन
अब तो बेटे, चुप सो जा रे !
सो जा मेरे दृग के तारे !
नन्हे-नन्हे फूलों को सो
निंदिया दौड़ी आन सुलाती

पवन झुलाती इनको पलना
थपकी देती गीत सुनाती
'भारी निंदिया' भारी निंदिया'
गाती हूं मैं तू सो जा रे!
सो जा मेरे दृग के तारे!

—सरोजिनी कुलश्रेष्ठ

अनंत आकाश, व्यापक पृथ्वी प्रवहमान समीर अखण्ड गति और रात का फैला हुआ अनंत तिमिर। वहां जीवन की ममता भविष्य का दृढ़तम विश्वास जीवन की विवशता नहीं। उसमें एक ओजपूर्ण आसक्ति है। यह पुरुष और नारी के मूल दृष्टिकोणों में कितना भारी मत प्रकट करता है! कितनी दूरी है!

और पुरुष क्या सोचता है? हमारा जीवन मृत्यु के लिए है। हमारा सारा निर्माण अंततोगत्वा ध्वंस के हाथों का खिलौना है। अमरों का मर्त्यलोक है यह। इसकी भी कल्पना हमने ही की है। यहां सत् और असत् का द्वन्द्व चल रहा है। यहां कोमलता के साथ ही क्रूरता विद्यमान है

नीलाभ व्योम में धमक रहा है
सुप्त निशा का चंद्रभाल
अवनीतल पर है बिछा हुआ
निद्रा का मोहक इन्द्रजाल।
है उधर हंस रही प्रकृति खड़ी
है इधर हंस रहा क्रूर काल
इन कब्रों में हैं छिपे हुए
कितने मुक्ता, कितने प्रवाल।

×

इन कब्रों में है छिपी हुई
कितनों की भूली हुई याद
कितनों की अंतर्पीड़ाएं
कितनों के निष्फल सुप्त भाव।
हैं आज हुए इनमें विलीन
कितनों के हास्य-कटाक्ष-व्यंग
कितनों के विरहोच्छ्वास और
प्रणयी के उर की नव उमंग।

—आनंदकुमार

मृत्यु का अवसाद कवि को घेर लेता है। जाने इन कब्रों में कितनों की भूली

हुई याद छिपी हुई है। अपने जीवनकाल में इन लोगों ने अपने को कितना महत्वपूर्ण नहीं माना होगा! आज वे कहाँ हैं? उनकी न जाने कितनी पीड़ाएं उनके साथ ही अधूरी चली गईं। उनके गर्जनों की सफलता का प्रश्न ही नहीं उठता। रूप, यौवन, प्रणय और विरह सब इस समय इनमें लीन पड़े हैं। पूछा तो उमर खय्याम ने भी यही था। शेक्सपियर ने भी यही कहा था। हमारे प्राचीनों में व्यास ने तो बहुत अगाध कहा है। क्या मृत्यु के प्रति यह दृष्टिकोण मनुष्य का विकास रोकता है? मेरी समझ में इस तथ्य को समझ लेना जीवित मनुष्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक है क्योंकि उसके मह की बहुत-सी बर्बर खड़ता इस सत्य को जान लेने से कुण्ठित हुआ करती है। एक समय तो इस विचार ने स्वर्ग और नरक की कल्पनाओं को भी और इस लोक में इसी माध्यम से सद् को स्थापित करने की चेष्टा की थी।

समय बदल जाता है, विचार भी बदल जाते हैं और फिर नये समाधान हमारे सामने आने लगते हैं।

समय देवता में नरेश मेहता ने संध्या का बड़ा ही आकर्षक चित्रण किया है। नरेश मेहता की कल्पना बहुत पुरानी है वैदिक युग की सी आदिम इसीसे बहुत रंगीन और विस्मयमय किन्तु उसने उसे नये ढंग से प्रस्तुत किया है अतः वह अच्छी मालूम देती है

> सोने की वह मेघ चील
> अपने चमकीले पत्नों में ले अधकार
> अब उठ गई दिन अंडे पर।
> नदी-वधू की नथ का मोती चील ले गई।
> गगन-मोड़ से सूरज-ग्वाला, हाँक रहा है दिन की गायें।
> नभ का नीलापन चुप है दिनि के कंधों पर सिर धर।
> इस उतराई-भाग दिवस के सम्भव
> नतशिर होकर उतरे सधे चरण से
> चमक रही पीले बालों वाली अयाल उनके गरदन की।
> साँझ, दिवस की पत्नी अपने नील महल में बैठी
> कात रही है बादल।
> दिनि की प्यारी कन्याएँ हैं भाग रहीं तारों की गुड़ियाँ।
>
> —नरेशकुमार मेहता

मेघ-रूपी सोने की चील अपने चमकीले पंखों में अंधकार भरकर दिन-रूपी उजले अंडे पर बैठ गई है। बिलकुल वैसी कल्पना है जैसी प्राचीन काल में वात जब गाड के विषय में टॉल्मयुगीन पुरुष किया करते थे। पहला चित्र समाप्त होता है। फिर दूसरा चित्र आता है फिर तीसरा और फिर उत्तरोत्तर नया ही। किन्तु सारे चित्र संध्या के वातावरण की ओर ही इंगित करते हैं इसलिए अलग-अलग दृश्य भी एक

ही विस्तृत पटी के चित्र-से प्रतीत होते हैं और वे अपनी पूर्णता का आभास देने में समर्थ होते हैं। क्योंकि ये सारे कार्य-व्यापार लोक प्रचलित हैं अतः इस कल्पना-समूह को समझने में कोई कठिनाई भी प्रस्तुत नहीं होती। यह वर्णन प्रकृति का स्वत्व झलकाता है। कवि मानो सब कुछ दूर से देख रहा है।

अन्त म हम यही कह सकते हैं कि नई कविता का संबंध भोर से सांझ तक है। दिन की धूप का असली वर्णन तो वर्ग-संघर्ष के चित्रण म आया है जिसे हमने अभी यहां नहीं लिया। अभी तो कवि धरती का प्यार संजोने में ही लगा है। वह अपने सौन्दर्य के हंस की गति पहचानने का प्रयत्न कर रहा है। उसे अन्धकार तो दीख रहा है, किन्तु वह उससे हारा नहीं है रात ने उसे पराजित नहीं किया है

व्योम पर छाया हुआ तमतोम,
हे हिम हंस! तू जाता कहां है?
नील नीलम नभ निमंत्रण दे किसी को
तो करे इन्कार कैसे?
आंख जिनके हों न उनको चांद सूरज
की किरण से प्यार कैसे
ठीक है दिल पास रखता हूं समझता
हूं सभी कुछ आज लेकिन
व्योम पर छाया हुआ तमतोम
हे हिम हंस! तू जाता कहां है?

×

है ठहर सब तक फलक पर अब्र तसक है
और बाजू का सलामत
बिजलियों की हर लहर तेर जमीं को
और गिरने की अलामत,
दग्ध पर की दग्ध स्वर की कद्र केवल
एक धरती जानती है
लाख आकर्षित किसीको भी करे
आकाश अपनाता कहां है?
व्योम पर छाया हुआ तमतोम
हे हिम हंस! तू जाता कहां है?

—बच्चन

आत्मा का हंस अपराजेय है। उसे अपने पौरुष पर अभिमान है और वह जानता है कि वेदनाओं और दाह की यदि नहीं अनुभूति है तो वह इस पृथ्वी पर ही

है। आकाश बुलाता है लाख-लाख छलनाएं फैलाए है, मनुष्य को चकित और विभ्रांत करता है किन्तु वास्तव में गुरुत्वाकर्षण तो इसी पृथ्वी में है। इसीलिए हंस को इसी धरती पर आना है। इसी पर रहना है। न रहे तो करे भी क्या? अपनी ही कल्पनाओं के निराधार में वह कब तक भटकता रहे? उसे तो दर्द मिला है। और दर्द क्या बिना बंटे चैन पा सकता है? उसे तो रस चाहिए, रस

फागुन से पावस

सारा मध्यकालीन साहित्य षड्ऋतु-वर्णन से भरा पड़ा है। किन्तु नई कविता म ऋतु-वर्णन प्राचीन परिपाटी को ज्यों का त्यों स्वीकार करके नहीं चलता। भारत की कुछ ऋतुए विशेष सुहानी होती हैं जिनम फागुन और सावन के महीनो की वसत और वर्षा ऋतुए विशेषकर कवियों को आकर्षित कर सकी हैं।

प्राचीनकाल स अब तक कवियों ने प्रकृति को अनेक रूपों म देखा है। आलम्बन उद्दीपन मानवीयकरण रूपक नियोजन रहस्यात्मक प्रतीकीकरण रूपवर्णन-मात्र, शिक्षाग्रहण सवेदना-जागरण दर्शन निरूपण आदि के रूप म प्रकृति का वर्णन हुआ है। प्रत्येक युग ने इन विषयों को अपने ढग से लिया है और इसीलिए प्रत्येक युग के वर्णन म भिन्नता भी प्राप्त होती है। नया कवि जिस युग म प्रकृति की ओर देखन लगा उस समय प्रकृति पर एक ओर तो मनुष्य विजय प्राप्त करने का सघर्ष कर रहा था दूसरी ओर सामाजिक कुरूपताओं स व्यथित हृदय को वह अपने सौन्दर्य से आकर्षित कर रही थी। यह एक विचित्र द्वन्द्व था जिसकी अनुभूति पहले के कवियों म नहीं थी। एक प्रकार से एक ओर मनुष्य की यन्त्र-शक्ति थी दूसरी ओर मनुष्य का हृदय प्रकृति से अपना तादात्म्य खोज रहा था। नये कवि ने इन दोनों रूपों को देखा और अधिकाश उसन प्रकृति की सत्ता को सौंदर्य का एक माध्यम-मात्र माना। प्रयभद से प्राय सभी कवियों में इसके उदाहरण मिल जाते हैं। पूर्णत्व का जो विचार छायावादी काव्य ने लिया था वह नई कविता म नहीं मिलता। यह बात और है कि सौंदर्य की अनुभूति की कोमलता न उसे कहीं छोड़ा नहीं है। प्रकृति को नये कवि म मनुष्य के लिए मानने की अधिक प्रवृत्ति है चाहे वह उपयोगितावाद के रूढ़ स्वरूप के अन्तर्गत न आती हो।

वे ऋतुए जिनम नये जीवन का विकास होता है नये कवि को अधिक प्रिय हैं।

मधु का अनत आमपण उद्दीपन है स्वय ही जो वह आत्मा म रम जानेवाली व्याकुलता का प्रतीक है। सौन्दर्य अपनी समस्त गहराई के साथ उसम व्यक्त होता है। कृष्ण की बांसुरी और रास की कल्पना करता हुआ कवि कहता है कि अपनी चेतना म भी आज वह नवीन स्फुरण देख रहा है

अभी तक कर पाई न सिंगार
रास की मुरली उठी पुकार
गई सहसा किस रस से भींग
बकुल वन में कोकिल की तान
चाँदनी में उमड़ी सब ओर
कहाँ के मद की मधुर उफान ?
ठगी-सी रुकी नयन के पास
लिये अञ्जन उँगली सुकुमार
अचानक लगे नाचने मर्म
रास की मुरली उठी पुकार
सुहागिनियों में चुन कर एक
मुझे ही भूल गये क्या श्याम ?
बुलाने को न बजाया आज
बाँसुरी में दुखिया का नाम

×

महालय का यह मंगल-काल
आज भी लज्जा का व्यवधान ?
तुम्हें तनु पर यदि नहीं प्रतीति
भेज दो अपने आकुल प्राण।

×

रहा उड़ तज फेनिल अस्तित्व
रूप पल-पल अरूप की ओर
क्षीण होता ज्यों-ज्यों जयनाद
बढ़ा जाता मुरली का शोर
सनातन महानंद में आज
बाँसुरी कंकण एकाकार
बहा जा रहा अचेतन विश्व
रास की मुरली रही पुकार।

—दिनकर

जिस आकर्षण में नारी की आत्मा को बाँधता है, वह एक कल्पित सत्य नहीं लौकिक सत्य है क्योंकि राग किस प्रकार विराग को जागरित करता है इसपर विचारक विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं। अनमनों में एक कसक है कि उस आनंद का छविमय लीलामय रूप मुझ भूल भी न सकेगा क्योंकि रूप की बाह्य सत्ता की पराधीनता को यह स्वीकार नहीं करती उसमें अपनी क्षति नहीं मानती इसलिए यहां उसकी

पराजय नहीं होती।

यौवन और वासना को वसंत सुलगाता है। क्योंकि इस समय नवजीवन अपनी आँखें खोलता है। समस्त सृष्टि की जड़ता से जागरण में नया साहस प्राप्त होता है। ऐसा लगता है जैसे एक महान मिलन हो रहा है

यौवन मुग्ध वासना डोली !
विकसित हुई कुसुम की कलियाँ
विहंस उठीं मणि-मुक्तावलियाँ
झूम उठी लज्जानत डाली
मधुप लगे करने रंगरलियाँ
विरह विदग्ध काँपते स्वर से
'कुहू कुहू' पिक बोली !
मिलनातुर सौरभ-समीर ले
मिलनातुर कुसुमित कलिकाएँ
मधु पराग चुम्बन को आई
मधुप जनों की टोली
चले पवन के मन्द झकोरे
चले मान के मधुर निहोरे
नव प्रभात में नव किरणों से
डाल दिए जग पर छवि डोरे
यौवन लुटा प्रकृति मुस्काई
भरी ममता झोली।

—श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

विलास की कमनीयता में प्रकृति की रूप-वर्णना कर देने में ही उसकी प्रतिरूप छाया मनुष्य के हृदय पर पड़ने हुए, उसके भीतरी मनोभावों को व्यक्त करने में समर्थ हो जाती है। उसके लिए आवश्यक नहीं होता कि कवि अपने उत्तमपुरुष को बीच में ले आए। प्रकृति का स्वात्मावलंबी वर्णन भी तब तक अपना कोई मूल्य नहीं रखता जब तक कि वह मनुष्य की अनुभूति में नहीं उतरता क्योंकि अन्यपुरुष के रूप में अपनी दूरी को बचाए रख सके ऐसा कोई व्यक्तित्व तो प्रकृति में होता नहीं। दर्शन की तटस्थता में अभिव्यक्ति का ही भेद होता है वर्ना वह भी उसीका हृदय उसपर पड़नेवाली छाया का प्रकटीकरण हुआ करता है। नये काव्य में कवियों ने इस सत्य को अधिक पहचाना है। और यह नये काव्य के प्रकृति-वर्णन का एक विशेषता है। उसने प्रकृति को अपने से दूर रखकर भी केवल माध्यम नहीं माना वरन् उसकी सत्ता को स्वीकार करके भी अपने को ही उसका माध्यम माना है और इस प्रकार पुरातन पथ से तनिक हटकर सापेक्षरूप से नया तादात्म्य करने का प्रयत्न किया है। इसमें

कभी वह केवल प्रकृति पर आश्रित रहता है, कभी भाव पर। उसका भाव विचार के बिना नहीं चलता

जीवन में वसन्त आया क्या ?
जो पलाश वन फूल गये ?
उड़ी धूल कुसुमों की वन में
कोयल कूक उठी कानन में
तुमने जो अनुवचन दिए थे
क्या उनको तुम भूल गये ?
तुम निबाह लोगे आजीवन
कभी नहीं होगे विचलित मन
आशा कोई भी न जहाँ से
तुम ऐसे उपवस गये !
आओगे तुम क्या न कहा था ?
दिल क्या पत्थर-सा न रहा था ?
राह देखते ही सपने सब
मेरे हो निर्मूल गये !

—भारतीप्रसाद सिंह

अपनी वासनाएं उसकी यहां इसी सदर्भ में एकत्र हुई-सी मिलती हैं। अन्यत्र वह सौन्दर्य को भी उसी उत्तमपुरुष भविष्य में रखता है।

हरे भरे खेतों के सागर पर स्वर्ण-पीत फलों की सोने की रेशम की नया डोल रही है। तितलियों ने रंगीन चुनरिया ओढ़ी है। कली-कली रस से गर्वीली होकर खिलती है। सरसों के खेतों के सागर पर और गंध से मस्त मदमाती बयरिया, पागल बयरिया डोल रही है। आज चलो फिर से नया जीवन जगाएं। सरस हुए थम की ध्वजाएं फहरा रही हैं आशा और अभिलाषा की अमराई गूंज उठे अमृत घोल घोलकर काली कोयलिया, माती कोयलिया कूक उठे।

—सुमित्राकुमारी सिन्हा

फागुन एक तो वैसे ही सुन्दर होता है, फिर यदि कवि का हृदय भी सुन्दर होता है। प्रकृति के वर्णन में तो ऐसी ऐसी नई उपमाएं खोजी गई हैं कि देखते ही बनता है। जितना ही वह कोमल प्रतीकों का अभिव्यंजन करता है उतनी ही उसकी भाषा अपने बंधनों को तोड़कर लचकने लगती है। संभवतः इस प्रकार की लोच खड़ीबोली के इसी युग की देन है [छायावाद ने सिखाया दी परन्तु उसकी लोच का भराव इसी युग की देन है]। हम देखते हैं कि काव्यभाषा पहले से कहीं अधिक समर्थ होती जा रही है

आज इस फागुन की दुपहरिया में
सामने मिस्त्री के पुराने बंगले की

छत के रेलिंग पर झूलती
नारियल तरुमाला
छोटी-बड़ी सहेलियाँ जैसे
नाच रहीं डालकर गलबहियाँ
और उन नुकीले पत्रों की
उलझती लहराती अलकों में
अनन्त आकाश की दूरियाँ
बँध गई नीले रेशमीन रिबन के फुँदों-सी ।
पार के 'जुहू सागर' के
अगम श्यामली क्षितिज की भयावहता
बन गई बनफशई फूल
इन नारियल-बालाओं के
उभरीले सीनों के तटों पर ।
यों मानव की बनाई छत की रेलिंग पर
अगोचर अनत की चिरगोपन मोहकता
भर आई आज मेरी बाँहों में
और खुल पड़ी अनायास ।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

'नुकीले पत्तों' न कहकर कवि ने 'नुकीले पत्रों' का प्रयोग किया है, क्योंकि 'पत्तों' में फिसलन है जबकि नारियल के पत्ते कुछ कड़े होते हैं और उनको कवि 'पत्ते' न कह 'पत्रों' कहता है। एक 'र' का प्रयोग ही वास्तविक चित्रण करता है। नीले रेशमी रिबन के फुँदों की भाँति पत्रों के फाँकों के बीच में झलकता नीला आकाश हम एक भारी के सीमा के पास पहुँचा देता है जो विशाल है किन्तु कवि की दृष्टि से —क्योंकि कवि उस सबको धरती पर से देख रहा है। मनुष्य के निर्माण की अनुभूति से पूर्ण कवि प्रकृति के अगोचर अनन्त किन्तु रहस्यमय सौन्दर्य को नहीं भूलता।

वीरेन्द्रकुमार जैन अधिक यशस्वी नहीं हैं क्योंकि उसकी शैली अपनी है और आलोचकों के प्रति वह निर्द्वन्द्व है। उसके प्रतीक नये काव्य में अपना काफी महत्ता रखते हैं और उन्हें स्वीकार न करना अपने साहित्य की वास्तविकता को न जानने के समान है। वह फागुन की धूप का वर्णन करते हुए न केवल उसका सौन्दर्य दिखाता है, किन्तु वर्तमान में से अंकुरित होते हुए भविष्य को भी प्रस्तुत करता है और उसके रूप-वर्णन में अनायास ऐसी गंध-व्याप्ति होती है कि सचमुच कविता सप्राण हो उठती है। कवि में आशा गहन है गंभीर है, जोकि वास्तव में स्पृहणीय है। बसती धूप की केसर-तरंगें देखकर क्या अच्छा नहीं लगता

आगामी वनाल में पकनेवाले
हापुस आमों की आशा भरी पीलिमा-सी
यह फागुन की माधुरी धूप,
और उसमें किसी अनदेखे
लज्जारुण आनन के गुलाबी अधर
किस अजान आंचल के आश्रयनों
से मुकुलित मंजरित हापुस
की यह खट-मीठी गंध !
कि वसन्ती धूप की
इन केशर-तरगों में
कौन यह चिर-पहचानी लीला-संगिनि
हुई आविर्भूत
दाँतों के बीच चट्टी उंगली दाब
आंठ घुमा गोल-गोल
बिखराकर मुकुल मुस्कान के
दे रही आमंत्रण
जीवन के चिर नूतन फाग का
आनेवाले नये-नये लोकों और आकाशों
के अमर यौवन-उत्सव रंग राग का !

—वीरेन्द्रकुमार जैन

दांतों के बीच चट्टी उंगली दाबकर होठों को गोल-गोल घुमाकर आमंत्रण का चित्र कितना मोहक प्रतीत होता है और वह भी तब जबकि वह जीवन के चिर नूतन फाग का आमंत्रण हो ! जबकि वह अनागत नये-नये लोकों लोक नहीं लोकों, और आकाश नहीं आकाशों के अमर यौवन के उत्सव और रंग राग का आमन्त्रण हो !

कवि की सृष्टि उसकी दृष्टि में है और वह दृष्टि कितनी व्यापक है हमें यह देखना आवश्यक है क्योंकि सौन्दर्य स्वयं व्यापकता है। सकोच में भीति है। हम जिस युग में रहते हैं वह युग इतना यान्त्रिक-सा लगता है कि यह देखकर कि मनुष्य की चेतना इतनी जागरित है आश्चर्य होता है। हो सकता है लोग आज अपनी व्यामरुता में इस पर ध्यान नहीं दें, किन्तु व्यामरुता केवल निम्न स्तर पर लाने के लिए तो नहीं है वह तो हमारा स्तर और ऊपर उठाने के लिए है। इसका ही सबूत हमारे सामने नये क्षितिज उभारकर लाता है। एक कवि ग्रामजीवन की झलक देता है

निकस कोंपलें ज्यों रंग उभरे मदरीले,
फूले कांस कि पनघट तट में मस्ती छाई,

भीनी भीनी गमक रही बौरी अमराई
उड़ता है चौताल ढोल के बोल नशीले।
बाँका युवक खोल के निकला चौड़ी छाती
रसमस मसें भीगती आँखें कुछ अलसाई
फिर फिर आ निज ड्योढ़ी पर धनि छा घुमड़ाता
लगे कनखियों उसे देखने लोग-लुगाई—
कोयल के क्या कहने किंचित नहीं लजाती
डाल डाल पर फिरती गाती वह मदमाती।

—रामबहादुर सिंह 'मुक्त'

कोयल की करामात कौन सँभाले? कब से नहीं बोल रहा है यह? पुराने रागों की छाया देखनी हो तो वह यहाँ हमें मिलती है

मेरी श्यामा ने कभी फूँकी तो कोइलिया क्यों कूक उठी? कुहरे की झीनी चदरिया में सोई हुई धरती की सुधि खोई-सी ऊँघ रही थी उसे अचानक किसने गुदगुदाया कि चारों तरफ माया जैसी छा गई—माया ऐसी जैसी सरसों की फूली क्यारियाँ। आमों में मंजरियाँ झूली हैं भौंरों की भामिनियाँ बेसुध हैं पुरवाई मस्ती में ऐसी सनसना उठी कि भूली हुई बात फिर याद आई। कोइलिया कूकी मेरे कलेजे में हूक-सी उठ आई, कि वह मेरे कलेजे में कूकी है?

—रामवृक्ष बेनीपुरी

स्नेह का जब विरह में परिवर्तन होता है जब विरह की तीव्रता ही मन की सुकोमलता में आत्मतृप्ति बन आती है तब ऐसा कौन-सा समय है जब कोकिल ने अपना मद भरा गान छोड़ दिया हो? दमन की खोज और दाह के आकाश में वह बोलती रही है। उसने जीवन की यथार्थ वेदना और कल्पना के सौंदर्य के बीच मर्म वेदना को जगानेवाले स्वरों की सृष्टि की है और किसी भी अरूप टीस में अपना तादात्म्य किया है

दाह के आकाश में पर खोल
कौन तुम बोली पिकी के बोल।

×

आँसुओं का दाह, मेरे ईश!
क्यों घुमरते उर की यह टीस।

×

झिलमिलाती धूप का यह देश
कल्पने! कोयल तुम्हारा वेश।
लाल चिनगारी यहाँ की धूल
एक गुच्छा तुम जुही के फूल

याद में यह ब्याह का समीत
मूल क्या सकती न पिछली प्रीत !

×

धूप में उड़ती हुई शबनम भरी अनमोल
कौन तुम बोली पिकी के बोल !

—रामधारीसिंह 'दिनकर

दिनकर के प्रकृति चित्रण कहीं-कहीं बहुत सुन्दर हुए हैं किन्तु उनमें कभी-कभी परुषता के कारण थोड़ी ठोकर-सी भी लग जाती है। फिर भी दिनकर ने अपना स्थान बना लिया है। उसकी कविता मुख्यतः विचारप्रधान है और उर्दू शैली का चमत्कार उसमें काफी मिलता है जिसका अन्यत्र भी प्रभाव पड़ा है

पतझर की पलकों से पूछो कि मेरे गीत पनीले क्यों हैं? उन अस्तव्यस्त अलकों से पूछो कि ये इतने अस्तव्यस्त क्यों हैं? कण-कण की पीली मुद्रा को तुम रामकहानी क्यों समझे हो? चंदा की नादानी को तुम मेरा पानी क्यों मानते हो? तुम तो बरसात को समझे हो कि यह खूब भरी है लेकिन बात तो ऐसी नहीं है, क्योंकि जगत में ऐसे कितने फूल हैं जिनके नीचे दो-दो पात नहीं हैं। जैसा तुम समझते हो वैसी कोई बात नहीं है।

—मुकुटबिहारी सरोज'

उर्दू का सा यह प्रभाव संस्कृतकाव्य और रीतिकाव्य में हिन्दी में भी था किन्तु उर्दू के प्रभाव ने उसे पैना किया। जयशंकर 'प्रसाद' के आँसू में वह काफी प्रस्तुत था। दिनकर और उनके बाद के नये कवियों में यह काफी आया और उसका कारण था—कवि सम्मेलन। कवि-सम्मेलन का गौरव हटा देने से न जाने कितने कवियों की शक्ति आधी रह जाएगा किन्तु हम यही चर्चा न कहें कि आधी शक्ति का पुरस्कार 'वाह-वाह' में कवि अपने जीवन-काल में ही अर्जित कर लेता है।

नारी के चित्रणों में फागुन की अनुभूति में कोई ऐसा भेद विशेष नहीं मिलता। इससे यह प्रकट होता है कि शायद स्त्री और पुरुष की वासना के उद्दीपन अधिक रूप से एक ही हैं

फागुन की तीर समीर
फूलों कलियों को मींज मींज
डालों बेलों के बीच चली
आँचल खिसकाती भीने पट साड़ी के
भर धानी धूल से धरती का धुल सुंदर
रंग में रंगती
उड़ती आती है आगे आगे आगे!

×

यह उभार वायु का सुन्दर
चित्र अभी फागुन का पूरा होने में
कुछ मीठी-सी देर और बाकी है

×

केसर की झाड़ पीली
चमचम लाल गुलालों के छोटे वन
कहीं बिखर कर बन पाये हैं
पूरा चित्र मनोहर।
रानी को देखो
उसके श्वेत गुलाबों पर
नहीं गुलाबी चुंबन
अंकित हो लालिमा लाये हैं।

—श्रीमती शकुन्त माथुर

नारी को भी नारी-रूप अधिक सुहाता है क्योंकि सम्भवतः स्त्री सारी सत्ता को स्त्री-रूप में देखती है और पुरुष उसकी पूर्णता का एक माध्यम-मात्र बना रह जाता है। पुरुष में यह बात नहीं है। उसमें नारी का क्रीड़ा-रूप अधिक आता है

तुम खिलीं कमल खिला दिगन्त खिल गया है। एक मधु-हास एक सुवास और एक ही किरण-पाश से अनन्त बंध गया है। आज रोम रोम खिल रहे हैं क्योंकि दो हृदय मिल रहे हैं। एक हवा छू गई है वसंत आ रहा है।

—[illegible] सिंह

परन्तु सब अवस्थाओं में ऐसा नहीं होता। यह तो तत्कालीन अनुभूति की बात है कि पुरुष में नारी भाव आता है, या नारी में पुरुष भाव इन दोनों के भाव स्वतन्त्र विकास करते हैं या दोनों दो रंगों की भांति घुलमिलकर नये रंग का सृजन करते हैं।

एक सत्य तक यही सत्य है कि बाह्य से उद्भूत अतन्य की भावना ही काव्य में अपना प्रकटीकरण करती है और यह प्रत्येक कवि में अपनी अपनी होती है इसीलिए 'रूप' के विभिन्न स्तर होते हैं। फागुन का शाम का गीत' एक संगीतात्मक हिन्दोल सा है उसमें हमें मस्ती का आलम मिलता है। पता नहीं किस युग में यह कविता अबूझी नहीं लगती

भर भर पिये उमंगों ने सौ-सौ यौवन के जाम
किस मस्ती से छलक उठी है यह फागुन की शाम!
सौ-सौ गंध पुलक भर मन में चली हवाएं झूम
किसी स्वर से उठ सँभलाती बोल जगाए धूम!

कुछ अगरध्वनियों-सी आती खेतों के पार से
झाँक सुधियाँ द्वार सजे इन बंदनवार से,

×

झमक उठे ये ढोल मजीरे लहरे-लहरे बोल
मन बौराया, तड़पा फागुन, स्वर-स्वर जागा बोल,
अब छलका जो पुरा दिशाओं में रस फाग ने
चौंक पहरुवे सा अलसम फिर लगता जागने
तन मन डूबा तन्मयता में खोया-खोया ग्राम।

—अभयप्रताप

ग्रामचित्रों में नदियों ने अधिक स्वच्छन्द विकास पाया है जो स्वाभाविक भी है क्योंकि यहां मनुष्य ने प्रकृति पर अपने व्यवधान कम उठाए हैं और गांव के आदमी की शहर के आदमी की तुलना में ठाल भी अधिक होती है अवकाश में वह रमता भी अधिक है क्योंकि आखिर वह करे भी तो क्या? किन्तु व्यक्तिपक्ष में ऐसा नहीं होता

यह फागुन की रात शिथिल मन प्राणों में झंकार भर रही है। दूर नदी के पार बांस के झुरमुट में चांदनी खिल रही है। हौले हौले झूम कर हवा के झोंके पर यह यह किसकी हल्की आवाज चली आ रही है, जिसकी लहरों पर मेरा मन रह रहकर तिनके सा बह जाता है। आकुल-व्याकुल-सी हवा व्यथित होकर घूम रही है, जैसे प्राणों की तृष्णाएं घूमती हैं जैसे जीवन मरण की उन रेतों पर घूमता है जिनका पानी सूख जाता है।

—श्यामसुन्दर 'मराल'

जीवन एक लहर की भांति है यह बार-बार लहराता हुआ मरण की थरथरी वायु पर बहता है और फिर सूख जाता है। फागुन क्या मृत्यु के ऊपर अभिनय ही है? हां ऐसा ही तो है क्योंकि व्यक्ति प्रेम की निराशा में व्यथित है। न जाने किस अंतराल से उसके पास एक आवाज आ रही है धीमी बहुत धीमी। हवा व्याकुल-सी भटक रहा है।

किन्तु कोकिल की पिटास का जादू तो कैसी भी व्यथा हो उसे क्षण भर में धो ही देता है। रसाल-कुञ्ज में मादकता छा गई है। जाने आज कोकिल कौन-सा संदेश लाई है! अरे फागुन तो प्यार का पर्व है। अब प्रेम में स्पर्धा उत्पन्न हो गई। यही रूप की होड़ है कैसे अपने व्यक्तित्व का इतना विकास हो सके कि प्रियतम, अर्थात् पूर्ण, से सायुज्य स्थापित हो जाय? यह तो प्रकृति की पीठिका बन गई

आज रसाल-कुञ्ज में
कैसी मादकता छाई?
कोकिले! कौन संदेशा लाई?

'आज प्यार का पथ प्राण
सुनते हो यह अमृत वाणी
आज मेदिनी के आँगन
ऋतुपति को होती अगवानी
क्या जानें क्या प्रात प्रमों मे
दक्षिण पवन पुकार उठा
सहसा पग-पग स यह
कैसा उछाह का ज्वार उठा!

×

वृत-वृत में, कली कली में
केसर (कुंकुम) लास चढ़ी
मैं भी योग्य बनूं प्रियतम के
उर उर में अभिलाष बढ़ी

×

तुम क्या दोगे प्राण! सुनो यह
गाती मधुवन की रानी
एक गीत उन्मुक्त हृदय का
एक बूंद हिय का पानी।

—केसरी

गीत कोकिल का है कोकिल मधुवन की रानी है। उसका गीत स्वतन्त्र है। उसपर कोई बंधन नही। उसके स्वर म करुणा भी सिमट गई है यों ही तो वह सुख और दुख म एक-सी आह्लादिनी ममता का सृजन करने म समर्थ होती है?

कोकिल की ही भाति रसाल भी मदन का एक अस्त्र है। स्वय कालिदास उसे देखकर विचलित हो उठता था। न जाने बसंत के साथ कैसी रागिनी-सी गूजने लगती है। पीली कमर के भौरे कोठरो से निकल पड़ते हैं तितलियां पर फरफराने लगती हैं और छोटे-छोटे पक्षी भी अपना कलरव सुनाने लगते है। अरुणिमा स्वयं बसन्त की प्रतिनिधि बन जाती है। आकाश स पृथ्वी तक एक ही सौन्दर्य दिखाई देने लगता है

मजरित रसाल कुज
गुजित मधुरागिनी
वासती वेश किए
करों हेम कलश लिए
लिए अधर ज्योति, सुभग
अरुणिमा सुहागिनी
मजरित रसाल

फूला सखि, अमल कमल
भूला मग विहग विमल
धवल नवल रूप धरे—
ऊषा अनुरागिनी
मंजरित रसाल

बोल सीख कोकिल से
गति ले मलयानिल से
कलिका से नयन खोल
जाग री, विरागिनी
मंजरित रसाल

—भवानीप्रसाद तिवारी

कोकिल से गीत सीखने में आनन्द आता है कलिका जागरण का आनन्द जगाती है विरागिनी सुहागिनी बन जाती है।

परन्तु जिसको व्यथा ने सिक्त कर दिया है वह कब तक अपने को बहला सकता है। उसे कोयल दिखाई नहीं देती। उसे तो वीराना सालता है।

कैसी उदासी छा रही है! मीठे जहर के तीर मीठी कसक और पीर लिए पछुवा हवा आ रही है। जीवन का पथ अघोर और घोर है। इसी प्रकार सांस चलती जा रही है। फूल चमन से रूठी हुई विजन के ठूठ पर एक बुलबुल बैठी गा रही है।

—जानकीवल्लभ शास्त्री

भारत में बुलबुल का महत्त्व अधिक नहीं माना गया है, किन्तु उर्दू और फारसी ने बुलबुल का सौन्दर्य कुछ अंश तक प्रतिपादित किया है। और जानकीवल्लभ शास्त्री तो विद्वान कवि हैं वह न केवल प्राचीन को ही अपने भीतर समन्वित करता चलता है वरन् नवीन को भी। नये कवियों में तो उनका कोमल पदावली में एकान्त अधिकार सा है। उनके शब्दों में गमक बहुत है। उनके स्वर सुरीले हैं। बल्कि यह कहना भी अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके गीतों में वही हृदयग्राही तृष्णा है जो रुलाती है फिर हंसाती है और फिर रुलाती है। फागुन की आत्मा का फिर मन में उतारकर नया कवि कहता है

धत आया है धत आया है,
धत आया, धत के फूल लाया है।
नीमों की डाल कुम्हलिया गई
कि हरे-हरे पातों की भांवरी
फूलों के गुच्छ गहगहा गये
कि गंध साथ भवरों की भांवरी

मीठी लगने लगी कि हरियाई
घनी घनी बरगद की छाँव री।
महुए की गंधों की डोर पर
पीला-पीला अमलतास छाया है।
सोने की फसलों में झूल रहीं
बजती-सी सोने की बालियाँ
गहक रही गहूँ के गालों में
बाँहों को झूमती कुदालियाँ
लटक रहे हँसुओं-से अमलतास
गोरी-गोरी बाँहों की डालियाँ
लपक झपक हँसुओं की होड़ की
महुए ने गीतों को बहकाया है।

—रामदरश मिश्र

बड़ी बोलचाल की भाषा म रामदरश ने बड़े नये शब्द बनाए हैं जसे पुनगिया
ाई'। लोकजीवन का चित्र है बड़ा सरस जिसम मध्यकालीन यूरोपाय यथाथ
पूरे रूमानी खुमार के साथ आया था। फागुन के वर्णन तो एक से एक सुहाने
हैं

आज भोर मैंने महुओं को सूने वन म चूता हुआ देखा। ऊँचे लम्बे सघन वक्ष की
दूर-दूर तक फली थीं और अमराइ के एक किनारे पर पथ में ठडी छाहिं लेती
हरी भरी टहनी की गोदी मे चिकने-नरमीले किसलय नाच रह थे किरणों की
में तन्मय से किलक रहे थे।

—सुमित्राकुमार' सिन्हा

टहनी की गोद में जसे नरमीले किसलय चचल बालक हों। एस ही
वरप्रसाद नारायण सिंह न वसत म नये सचार को देखा है और वसुधा पर रग
लीला का उल्लेख सफलता स किया है

वन-वन कोयल कूक उठी मधु के मधुमय साँचे में ढलकर सहसा जसे वाणी
। पड़ी। पतझर का अन्तकाल आ गया, मधुपों का दल निकला आता है।
ये पत्तों से युक्त रसाल बौरों स ढँककर प्रशत भाल से वसुधा पर मधु का पात्र
होली का क्रीडास्थल रच रहे हैं।

—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

पतझर नहीं चाहिए। चाहिए वसत। क्योंकि उसमे न केवल प्राणों को प्यार
ता है वरन् धरती भी तो बड़ी सुहानी लगती है। नये कवि को तो विशेषकर
'धरती का प्यार' बुला रहा है। वह कहीं हो, धरती पर बलिहार है। कह सकते

है कि 'धरती नये युग की नई नायिका है। वेद में 'वसुधा' के वर्णन के बाद नया युग ही उसका वर्णन करता है

आरक्त हो उठा गगन यह देखकर—
धरती कुसुमांगना लेती अंगड़ाई थी
सरसों की पीली-सी साड़ी पहन कर
यौवन के भार से शिथिल-सी उन्मत्त।
साँसों में बहता था सौरभ का गंध-ज्वार
जिसमें उफनता था मधु-मकरन्द झाग
पी पीकर भृंग जिसे गाते थे प्रेम राग।

×

अब होय यह साथ फूलो यदि प्यार से
अंतर के तार तार बज उठें सस्पंद !
सार्थक करो प्राण ! जीवन की एकता
जिससे चिरसंगिनी ! मिटे एकरसता !

×

और कुछ ही दिनों बाद धरती के अंग अंग
मांसल सुपुष्ट से पहिन हरीतिमा के
नवल-नवल परिधान एक बार हँस उठे,
और आकाश भी हँस उठा एक बार
नक्षत्रों की पंक्ति-पंक्ति मुस्करा उठी अगहन
और खिलखिला उठा बरस पड़ी चाँदनी !
और तभी क्षितिज से उतर आकाश ने
धरती को प्यार से अंक में समेट लिया।

—शीतलाप्रसाद श्रीवास्तव

एकरसता का अब क्या काम ? धरती गुनती है कवि का हृदय रोता है। वह कुसुमों से ढँक जाती है सरसों की पीली साड़ी पहनती है तो अच्छी लगती है। उस समय वह यौवन के भार से 'कुचभारनमिता' सी दिखाई देती है। और तभी उसे अपनी प्रिया की याद आती है। वह कहता है कि इस समय आओ इस जीवन की एकता स्थापित करके प्राणों की सार्थकता को सिद्ध करो। क्या दिन क्या रात ! धरती कब अच्छी नहीं लगती ? वसंत की चाँदनी आकाश से बरसती है चाँद खिलखिलाता है। उस बेला आकाश क्षितिज से भी उतर पड़ता है और धरती को प्यार से अपने अंक में समेट लेता है। धरती और आकाश जहाँ तो विद्यापति के उपमेय थे वहाँ स्त्री और पुरुष आकर उपमेय बन गए। भोजपुरी बोली अपनी कोमलता में ब्रज से किसी प्रकार कम नहीं है। इधर बोलियों में भी बड़ी सुन्दर कविता हुई है किंतु कम ही प्रकाशित हुई है।

एक दिन उसका विकास अवश्य होगा। नये कवियों ने उसके महत्व को पहचाना है। भोजपुरी बोलन में जितनी अक्खड़ता है उतना ही काव्य म मधुर है जैसे बंगाली। बसंत का एक सुन्दर वर्णन है

बगिया के आर-पार
रसवा के बहे धार
कोइली मधुर गीत
सबके सुनावेले।
चिरई के चहचह
पतई के लहलह
जाड़ा में कहला
बसन्त ऋतु आवेले।
×
कचनार मकल
सीरीसम गमकल
कटहर महुआ त
महमह महकल
अमवां के डढ़िया पर
झूले से मोजरिया त
मदमाति भँवरा
मलन बाटे मकल।
गोरिया के चढ़ली
जवनियाँ कुलांच मार
बाँध सूरि सपरे
चलत विया मटकल।

—विन्ध्याचल पाठक

हर पद में एसा लगता है जैसे हिमराशि पर ज्योति छिटकती चली जा रही हो। गोरी की चढ़ती जवानी का कुलाच मारना बड़ी ही सरस अभिव्यंजना है। यह तो है ग्रामचित्र। और दूसरी ओर है नगर का चित्र

डामर की सोंधी बोझिल गुबार हवा है जैसे अभी अभी मेरा दम घुट जाएगा। फिर क्या होगा। मेरे वे रेशम-से रूमानी सपने व फूलों-सी सुकुमार सलोनी कविताएं व खेत की फसलें उन खेतों पर विजयदृप्त कंठों का स्वर वह हंसती-गाती फागुन की मदमस्त हवा और उसपर उठते-लहराते सुख के सघन स्वप्न" उनका होगा क्या? उफ! फिर डामर का गुबार घुमा आ गया।

—नंद चतुर्वेदी

एकदम कठोर चोट ! ठाकुर की बदबू ! सभ्यता के ऊपर एक व्यंग्य । क्यों? क्योंकि वास्तव में नगर में प्रबन्ध ही कहीं-कहीं ऐसा है। बाह्य का बन्धन और आत्मा की स्वच्छन्दता दोनों का संघर्ष उठ खड़ा होता है। कवि आतंक से कांप उठता है। किन्तु जो इस नहीं देखते, वे प्रकृति को देखते समय पहले उसकी समग्रता देखते हैं मानवकृत विकृतियों में वे सौंदर्य की वास्तविकता को नहीं भूल जाते

पी मेरी भ्रमरी, वसन्त में
अन्तर-मधु जी भर पी ले
कुछ तो कवि की व्यथा सफल हो
जलूँ निरन्तर तू जी ले
घूम घूम मकरन्द हृदय का
सजनि ! तू मधु चक्र सजा
और किसे इतिहास कहेंगे
ये लोचन गीले गीले ?
लते ! कहूँ क्या सूखी डालों
पर क्यों कोयल बोल रही ?
बतलाऊँ क्या ओस यहाँ क्यों ?
क्यों मेरे पल्लव पीले ?

×

मुझे रखा अमरत्व अभी तक
विन्ध्य मुझे अजेय रहा
सिंधु यहाँ गंभीर अगाध
सखि ! धन्य यहाँ ऊँचे टीले।

—दिनकर

कवि को दुःख तो है वह दृष्टि को समझ भी नहीं सका है परन्तु वह जो है उसे क्यों न देखे ? तभी कवि कहता है

आज इस फागुन की दुपहरिया में सामने खिरनी के पुराने बंगले की सुनसान पड़ी सभी चौड़ी छत की रेलिंग पर मालियस की तरलाभा भूल रही है, मानो गल बहियां गूंथे सहेलियों की हारमाला खड़ी नाचती है। मानव के पुरातन बंगलों की दिगन्तरगामिनी छतों पर वसंत का मदनमोहन उजियाला यौवन का नित्य नवीन रास खेलने को उतरता है।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

प्रकृति मनुष्य को सुन्दर करने के लिए नहीं है। वह तो उसे सुन्दर बनाने आती है। जो मनुष्य की अपनी मरजाद की चेष्टा है, उसे भी प्रकृति सुन्दर बनाती है। मनुष्य के जीवन में आनन्द कहां है ? वसन्त आता है वह नवीन रंग नवीन

क्रीड़ा, नवीन सम्पन्नता। मानव की पुरातनता के प्रति यह प्रत्यावर्तन-स्वरूप प्रकृति की छवियाँ ही नवीनता देती रहती हैं।

कवि स्वीकार करता है कि बहारें दीवाना बनाती हैं, तारे अहसान-सा करते हैं। चाँदनी गीत बरसाता है। किन्तु वह मरण होने पर सबको छोड़ देने को भी तैयार है। मूलतः मनुष्य का अहसान मनुष्य पर है और सबसे बड़ा है। किंतु प्रकृति सबको अच्छी लगनेवाली वस्तु है। कथा तो मिट जाती है किंतु सौन्दर्य कहाँ मिटता है?

मुझको दीवाना किया बहारों ने
अहसान किया है मुझ पर तारों ने
जिसकी मुझको हर बात सुहाती है
चाँदनी गीत मुझ पर बरसाती है
तुम कहो चाँद के पास न जाऊँगा
अँधियारे में चुप हो सो जाऊँगा
मुझ पर अहसान तुम्हारा भी तो है।
चाँदनी सभी को पास बुलाती है
मैं हो गया, सारी दुनिया गाती है
कुछ तो गीतों से मन बहलाते हैं
कुछ घाव समय से खुद भर जाते हैं
बेहोशी है चमन की छाँहों में
है मौत अगर फूलों के गाँवों में
जीने के लिए इशारा भी तो है।

—सुरेन्द्र तिवारी

कितनी अजीब बात कहता है यह कवि कि अगर फूलों के गाँवों में मौत है तो जीने के लिए भी तो इशारा है। बड़ी गहरी सूझ है। अन्यत्र कवि कहता है

शिशिर-समीर से कभी वसंत नहीं गला न वह कभी निदाघ के दाह से डरा है न जला ही। विनाश के पथ पर वसंत अजर अमर पथिक है। वह नवीन कल्पना है, नवीन साधना है, नवीन स्वर है। उसमें सदा मरण नवीन जन्म के रूप में पल्लवित होता है। वसंत के चपल चरण नवीन छंद रच रहे हैं।

—रामदयाल पाण्डेय

यह है वसंत की नयी अभिव्यक्ति कि वसंत जोकि रूप है, वास्तव में मनुष्य के लिए एक प्रेरणा है। सेनापति बिचारे के पद में दो-दो तीन-तीन अर्थ थे विद्यापति के शब्दों में कंगन झमकते थे किन्तु नये कवि की वाणी का आश्वासन उनका युग तो उनके शब्दों में नहीं भर सका था बल्कि मैं तो कहूँगा कि छायावादी कवियों में भी इतनी बात तो नहीं मिलती।

पतझर ने कवि को इस सम्पन्नता की ओर खींचा है। उसने प्रत्येक सृजन के

पीछे अतीत में एक आनन्द की छवि था देखा । उस एक दिन सपन अतीत म विश्वास था । आज वह कांपता है । लेकिन क्यों ? भगवतीचरण वर्मा छायावाद की कोमलता से विरुद्ध उठनेवाला कवि था । उसके समय म समाज की परिस्थितियां ऐसी थीं कि वह केवल अतीत स पीछा छुड़ाना चाहता था

> पतझड़ के पीले पत्तों ने प्रिय, देखा था मधुमास कभी
> जो कहलाता है आज रुदन वह कहलाया था हास कभी
> आँखों के मोती बन बनकर जो टूट चुके हैं अभी-अभी—
> सच कहता हूँ, इन सपनों मे भी था मुझको विश्वास कभी।
>
> —भगवतीचरण वर्मा

सपन वर्तमान की वास्तविकता की ओर इंगित करनेवाला म भगवतीचरण वर्मा का साहित्य म अनन्य स्थान है । उसने एक समय सबको झकझोर दिया था । उसन जीवन क यथार्थ को अगाया

> आलोक दिया हसकर प्रात अस्ताचल पर के दिनकर ने
> जल बरसाया था आज अनल बरसाने वाले अम्बर ने
> जिसको सुनकर भय शका से भावुक जग उठता कांप यहाँ
> सच कहता हूँ कितने रसमय सगीत रचे मेरे स्वर ने ।
>
> —भगवतीचरण वर्मा

अपने अतीत को भी उसने भावुकता स मुड़कर दखा किन्तु फिर वह व्यापारिक हो गया । उस समय की विद्रोही चेतना का उस व्यक्तिवाद में बदल जाना था क्योंकि उसक पीछे अध्ययन का कुछ प्रभाव था, बल्कि यह कहना चाहिए कि पराधीन देश म होने क कारण युवकों में आवेश अधिक था । यदि देशकाल की सीमा स हटाकर इस कविता को रखा जाए तो इसम हम नये जीवन की प्रसव-पीड़ा का आभास अवश्य ही प्राप्त होता है ।

इस पथ में स्त्री-पुरुष सबंध म भी अत्यत सुन्दर रूप स प्रेम-संगीत उगानेवाला कवि भगवतीचरण वर्मा ही था जिसने एक समय युवकों को बहुत प्रभावित किया था । आज हम उसके वे स्वर हिन्दी की नई कविता म हम सुनाई दते हैं यद्यपि प्रत्येक कवि म अपनी मौलिकता विद्यमान होती है

> तीन पातों में खिले दो फूल, जिनमें एक तुम हो, एक मैं हूँ
> है गुलाबी-सा तुम्हारा
> औ' अरुण-सा एक मेरा
> खिल गई हो मौरभ क्यों
> देखकर अरुणिम सवेरा

और तीनों पात जैसे
लोक तीनों देखते हों
आज सब के नयन में दो फूल जिनमें एक तुम हो, एक मैं हूँ।

×

प्राण ! सुधि की डाल पर
दो फूल ये मैंने सजाये
है शपथ ऋतुराज !
इसमें अब कभी पतझर न आये
नित नये गुंजन सुनाऊँगा
इन्हें अपने हृदय के—
गीत भर तुम न आना भूल जिनमें एक तुम हो एक मैं हूँ।

—अनामशरण चतुर्वेदी

तीन लोकों के बीच प्रेमी और प्रेमिका ऐसे हैं जैसे तीन पातों में दो फूल खिल रहे हों। क्या व्यापकता है ! प्रेमी के हृदय की विशालता व्यापकता देखने योग्य है। प्रेम का यही त्रिविक्रम-स्वरूप है ! किन्तु प्रेम लोक में मान्य अब भी नहीं है। प्रिया और प्रिय दोनों सबकी आँखों में शूल-से गड़ते हैं। कवि का चित्र बदलता है। अब वह स्मृतियों की डाल पर दो फूल सजाता है। ये कौन-से हैं ? एक वह स्वयं है, एक उसकी प्रिया है। यह तो चित्र है, स्मृति-मात्र में जीवित। इस चित्र को वह अक्षुण्ण रखना चाहता है, कि इन फूलों पर तो पतझर को कभी आना ही नहीं चाहिए।

पतझर का आतंक विनाश का संकेत है। किन्तु कवि सदैव उससे नहीं डरते। वे अपनी परिवर्तनशीलता में उसकी अनुभूति को ही बुरा समझते हैं

नहीं चाहती मैं चिर यौवन
अपना वह रूठा-सा बचपन
मैं इच्छुक हूँ उस ममता को
जिस में उर से उर जाता मिल !

—उमा पाण्डे

चिर यौवन तो देवताओं में होता है। उस लेकर होगा भी क्या ? नीरसता ? एकरसता ? इससे तो अच्छा होता है—बचपन जिसमें हृदय को हृदय से मिलने में विलम्ब नहीं होता। क्योंकि अविचलित निर्द्वन्द्व सहजता होती है उस समय ! उस मादक स्निग्धता से हृदय पुकारता है

मेरे गीतों में भरी देव !
पावस पिक के उर की पुकार !
बन गई चाँदनी अंगराग
भर रही अंग में नव पराग

मेरी आँखों से झरते हैं प्रिय,
अश्रु नहीं ये हरसिंगार !
केसर से रंजित कर दुकूल
हँसती हूँ खिलते सुमन फूल
मेरी साँसों में बहती है
मधुऋतु की मृदु सुरभित बयार !
दो देहों के हम एक प्राण
गायें जीवन के मधुर गान
मेरे सूने उर से मिलकर
मेरे बन जाओ, हे उदार !

—तारा पाण्डे

मैं स्वयं वसंत हूँ । हमारा मिलन हमारे सौन्दर्य की चरम सफलता है । नारी का हृदय तो इस मिलन को और भी गहराई से पहचानता है, क्योंकि सारा काव्य कहता रहा है कि व्यथा पुरुष में दाह है नारी में रिक्ति । दोनों का संतुलन हो तो कहाँ ? आत्मलय में । वसंत की यह नई माधुरी पहले की सारी छवियों में अपना अलग स्थान रखती है ।

प्रेम वसंत का अथ है इति है । उसका जब तक वसंत से पूर्ण तादात्म्य नहीं हो जाता तब तक कोई न कोई वेदना बची ही रह जाती है । बिना प्रेम के यह वसंत भी व्यर्थ ही होता है । इतना जो छवि का वरदान है उसका मूल्य ही क्या है ? बिना प्रेम के अमरता का अभिमान भी व्यर्थ ही है । दान तो तब तक असहाय ही है जब तक कि एक का स्वर दूसरे की विभोरता का साधन नहीं बन जाता

जो न बन पाई तुम्हारे
गीत की कोमल कड़ी
तो मधुर मधुमास का वरदान क्या है ?
तो अमर अस्तित्व का अभिमान क्या है ?
तो प्रणय में प्रार्थना का मोह क्यों है ?
तो प्रलय में पतन से विद्रोह क्यों है ?
आय, या जाये कहीं—
असहाय दशन की घड़ी ।
शून्य में ब्रह्माण्ड में फेरी लगाई
और तारों में सजन फेरी लगाई
अनमना कर सोलहों साधें सधी हों
सोलहों शृंगार से सौंहें बंधी हों

मगर हो कर, गगन पर
बिखरा व्यथा बन फुलझड़ी।
×
रूप ने आराधना से हार पाई
और गुण ने गगन पर सूली सजाई।
स्वप्न का उपवन सुला
डाला, कि जब आई घड़ी।

—माखनलाल चतुर्वेदी

तन्मयता सबसे श्रेयस्कर है। केवल रूप तब तक सफल नहीं है जब तक कि उसमें श्रद्धा की पवित्रता नहीं है, नम्रता की आसक्ति नहीं है, तल्लीनता की रीझ नहीं है। आराधना रूप से पराजित नहीं हो सकती। गुण—अपने व्यापकतम अर्थ में वेदना को स्वीकार करता है, किन्तु उसमें असीम साहस है, वह भाग्य के फन्दे को काटता है। कवि ने इस कविता में एक अस्पष्ट ढंग की मनुहार भी की है, जो उसके रसमय प्राणों की आकुलता को भी प्रकट करती है।

पतझड़ की अब बलिदान-कहानी उभर रही है। धरती पर पात ही पात हैं पीले-पीले। ठहरो! यह विनाश अपने आपमें पूर्ण नहीं है। अब एक नया जीवन फिर से झांकनेवाला है। और उसमें नये जज्बात होंगे। कवि देख रहा है कि अब परिवर्तन शीघ्र ही होनेवाला है

ठंडी मीठी शरबत-सी रंगीन
हवाएं कहती हैं
खामोश कि—
देखो अब धरती पर—
पतझड़ की बलिदान कहानी
उभर रही है।
इन मगे घूंघट-घूंघट-से
पत्तों की बर्बाद जवानी
किसलय बन कर
कोंपल बन कर
नव पल्लव के घूंघट वाली
कलियाँ बन कर,
प्रिय सुहाग की लाली बन कर,
सिंदूरी किरणों के नीचे
धूप छाँह में
पुलक-बाँह में

के अन्तर्गत वसंत-छवि का वर्णन भी 'प्रतिक्रिया' बन सकेगा ? क्या फूलों पर नाचते भौंरो के वर्णन को भी 'पग-संचय से 'पलायन' माना जाएगा ? क्या कवि के हृदय को प्रकृति से खेलने की स्वतन्त्रता नहीं होगी

नगरों से दूर-दूर, डगरों से दूर-दूर फूल रही सरसों !
झूम झूम मधुर-मधुर, घूम-घूम निहुर निहुर
खेतों की गोद में झूल रही सरसों !
फूल रही सरसों !
सोने-सी पीली रे सदा चमकीली रे,
रेशम के मोड़े दुकूल नहीं सरसों !
फूल रही सरसों।

—सुमित्राकुमारी सिन्हा

निहुर निहुर की इसनी सरल और मधुर अभिव्यक्ति है कि मैं दूर तक लहलहाते 'निहुर निहुर' खेतों को देखता हूं। हवा के झोंको पर झूमना खेत जसे सरसों बह रही हो।

मन का विषाद धोलो ! उर द्वार आज खोलो !
देखो सुगन्ध भोली, भरकर बयार डोली !

—सुमित्राकुमारी सिन्हा

इसीलिए वसंत सुन्दर है। आओ न ! क्यों प्रकोष्ठ से बंधे हो ? तुम अपनी खिड़कियों म हो ? सारी पृथ्वी का प्यार है। उसके आवाहन में सृष्टि की आनन्दमयी धड़कन को सुनो।

यही आनन्द की दूसरी उफान नये कवि म आती है जब वह सावन क पास आता है। बादल तो इतना घिरा है इतना बरसा है कि काव्यांगन भर गया है।

वर्षा की सरसता जीवन की सरसता की ओर इंगित करती चलती है। वसंत और वर्षा वास्तव म यही दो ऋतुएं बड़ा परिवर्तन उपस्थित करती हैं। एक शीत की कठोरता क बाद एक ग्रीष्म की दुस्तर तपन के उपरात। जिस समय बादल दीखता है कवि-हृदय नाच उठता है

मयूरी नाच मगन मन नाच !
गगन मे सावन घन छाए, न क्यों सुधि साजन की आए
मयूरी आंगन आंगन नाच ! मयूरी नाच मगन मन नाच !
धरणि पर छाई हरियाली सजी कलि कुसुमों से डाली,
मयूरी मधुवन-मधुवन नाच ! मयूरी नाच, मगन मन नाच

—बच्चन

कवि ने मयूर को नहीं नचाया, यह उसके नागरिक जीवन का प्रभाव है। शायद उसने कल्पना से ही लिखा है। मयूरी का नृत्य तो मयूर के नृत्य के सामने तुच्छ

भी नहीं होता ! किन्तु यहां तो लम्य उल्लास है मन की उमंग की प्रधानता है। यहां मधुवन का अर्थ सुन्दर कानन है मधु का वन नहीं।

आनंद का उद्रेक गीत की भारालस वेदना में जाकर अपनी तृप्ति ढूंढता है। यह कौन गा रहा है कि पीड़ा जागती आ रही है। जब मन की तान अभावों की रागिनी में मिल जाए तब ही तो कवि कहता है

कौन गाता है कि सोई
पीर जागी आ रही है!
पर अभावों की अरी ओ रागिनी, तू कब अकेली
तान भरे भी हृदय की ले बनी तेरी सहेली,
हो रहे होंगे ध्वनित कितने हृदय यों साथ तेरे
तू बुझाती, बुझती जाती युगों से यह पहेली—
एक ऐसा गीत गाया जो सदा जाता अकेले
एक ऐसा गीत जिसको सृष्टि सारी गा रही है

—बच्चन

वेदना में जाने कितने हृदय एक सी अनुभूति से भर जाते हैं।

प्रेम की अधिक व्यक्त अनुभूति में हम नारी की कोमलता मिलती है जिसमें वह अपने ही रूप को वर्षा में प्राय एकाकार करके देखती है। भारत के बाहर इस प्रकार की कविता शायद लिखी ही नहीं जाती।

मन मतवाला तरस रहा है। आसमान में घिरी हुई बदरिया रिमझिम रिमझिम बरस रही है। पिया दूर है। इस पिया का तो सारे भारत में एक बड़ा भारी इतिहास है। यह परमात्म छवि को अपने प्रियतम के रूप में देखना कभी इसी आधार पर उठ खड़ा हुआ था कि अन्य अव्यक्त रूपों में अपने प्रिय का रूप सबसे अधिक सुन्दर था। और मातृपूजा के विकसित रूप शाक्त उपासना को ही इसका मूल समझना बहुत उचित होगा। सारे मध्यकालीन रहस्यवाद में निवर्तिनी ने ही अपने स्वरूप को व्यापक बनाया था। कवि-हृदय कहता है

मन मतवाला तरसे
आसमान में घिरी बदरिया
रिमझिम रिमझिम बरसे
पिया मिलन की आस लगाकर
आंसू क्यों छलकाए
प्रेम पथ की जोगिन बनकर
इतनी क्यों मरमाए ?
देख रही क्यों प्रेम-नगरिया
बड़ी दूर इस घर से ?

राजस्थानी बोलने में मीठी और गाने में उससे भी अधिक मीठी है और उसमें कमाल यह है कि गम्भीर और परुष की आवश्यकता होने पर वह बेमिसाल हो जाती है। सारे भारत में मुझे सबसे उष्ण बोली राजस्थानी लगती है। हो सकता है कुछ लोगों को विशेष पूर्वाग्रहों के कारण इससे मतभेद हो। राजस्थानी कविता का लोहा तो 'सोनार बांगाल' के कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी माना था। वर्षा का रेवतदान ने कितना सजीव वर्णन किया है! विरखा का आगमन कितना रंगीन है! तीजरवरणी तो चूदरी पहन रखी है। उसके शब्दों में वर्षा की ध्वनियां निकलती हैं।

अवधी के कवि चन्द्रभूषण त्रिवेदी ने भी वर्षा का सुन्दर वर्णन किया है। अवधी में एक फिसलन है और वह यहां भी मौजूद है। सामाजिक अवस्था भी इसमें झलक आती है। जहां खेतिहर का पसीना गिरता है वहां कारे घन लाल मोती निछावर करते हैं। जल के धागा से धरती के लिए वे हरी साड़ी बुनते हैं

हम तपी धरा के कन-कन पर
रिमझिम रिमझिम कढ़ित रसवन
हम मौल गगन के कारे घन!

×

भरि कै रस धार सजोगिन के
हिय, नयन पुतरियन माँ हरसी।
हम परदेसी के आंगन माँ
बिरहिन के असुवा बनि बरसी।
जहँ गिरत पसीना खेतिहर का
तहँ-तहँ लालन मोती वारी
जल के धागन ते बिनि लेइत
धरती के हित हरियर सारी
सावन युवतिन के लट छिटकनि
मन-वन मोरवन का सुख मतन।
बिरहन बेलिन लहकनि कुहकनि
भवियन मारन लहरनि बिछुलनि।
मिरदंग गगन घम-घम घमके
बूँद पर कजरी झूमा सावन
हम मौल गगन के कारे घन!

—चंद्रभूषण त्रिवेदी

भाषा में मूर्धा की-सी ध्वनि गूंजती है जब कालिदास का मेघ गूंजता था, संगीत प्रहत मुरज की भांति स्निग्ध-गंभीर घोष करता था और पृथ्वी पर कजरी गाई जाती है।

इस प्रकार के चित्रण बड़ा हल्कापन-सा फलाते हैं। यहां दिमाग नहीं लड़ाना पड़ता। बादल और वर्षा से अपनापन हो जाता है और फिर भी चित्रण आत्मपरक न होकर बाह्यपरक बना रहने मे समय होता है।

सुदूर लाल पंखो के पक्षी उड़ रहे हैं प्रकृति के नयनो का काजल मोती बनकर दिखने लगा है किन्तु मनुष्य अब केवल प्रकृति के रूप मे ही सीमित नही रह जाता यह मानव के जगत् पर भी अपनी दृष्टि डालता है क्योंकि उसकी दृष्टि फल रही है

कभी लसे पखोंवाले लाल परिन्दे
दूर क्षितिज के घन-गजन पर
कसरत बनकर घोल रहे हैं
बादल के पर डोल रहे हैं—
कुदरत की आँखों का काजल
वासन्ती यमघ का मृगजल
सुख चमन की किसलानी रगीन सेज से—
शबनम बनकर
मोती बनकर
पानी सी बंजान रेत पर बिखर रहा है।
खेत और खलिहानों की भीगी धरती पर—
देख रहीं बे-नूर निगाहें—
अपनी बुझती हुई क्षमा को
तड़प-तड़प दम तोड रही धनमान क्षमा को
मांस पिण्ड को
दिल के घुटते लाल खण्ड को—

×

देखो मेरे जीवन का ऋतुराज स्वय ही
धूप और वामा-पानी के कटु प्रभाव में
बेबस होकर, बाँह छुड़ाकर
बर्फानी खूंखार मौत के गले गोद से उतर रहा है।

—जवराल म्यायकार

वह प्रकृति को मानव से अलग करके नही देखना चाहता, क्योंकि इसमें उसे पूर्णता की अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार के चित्रण करुणा नहीं जगाते वे एक प्रकार की बेचनी पदा करते हैं। वर्ड्सवर्थ ने भी कहा था कि इस विचार से मैं और भी दुखी हो जाता हू कि मनुष्य ने मनुष्य की क्या हालत कर दी है क्योंकि प्रकृति में सब कुछ इतना सतुलित और सुन्दर है। वहां हम दान की ओर भी पाते हैं। किंतु यहां हमें दान नही जीवन के कठोर यथार्थ के आगे लाकर खड़ा कर दिया जाता

है। हमारी दरिद्रता मुंह बा उठती है। कवि देखता है कि बाकी सब कुछ बाहरी है वास्तविक आपत्ति तो मनुष्य की सर्वभक्षिणी क्षुधा है।

किन्तु बादल केवल विद्रोह का पर्याय नहीं रहा। कवि को अपने प्रेम का विवेचन करते समय याद आता है कि मनुष्य सदैव प्रेम करता रहा है और उसके रूप का भी, जहां तक उसका प्रकृति से संबंध है, प्रायः एक ही सी अनुभूति प्राप्त करता रहा है। कवि कहता है

आज के पहले अनेकों बार।
कभी वातायन, कभी निज कक्ष से
कभी कम्पित गात ले दृढ़ वक्ष से
कभी आँखों में हृदय की प्यास ले
कभी प्राणों में अमित उल्लास ले
कर चुका हूं मेघ तुमको प्यार!
आज के पहले अनेकों बार।

कवि कालिदास के मेघ की ओर भी इशारा-सा करता है और फिर प्रेम का उल्लास कहलाता है

नीप के तरु कण्टकित करते हुए
प्राण प्यासी ओस के भरते हुए
कभी उन्नत विन्ध्य पर चढ़ते हुए
नमदा की लहर पर बढ़ते हुए
छू चुके हो सजल मेरा छोर
देख कर दूरी, हृदय की ओर

—भवानीप्रसाद मिश्र

विरह की दूरी तो दूर होती है किन्तु हृदय तो मानो विदीर्ण हो जाता है। भवानीप्रसाद मिश्र में यही दिक्कत है कि उनकी कविता प्रायः गद्य-सी लगती है उसमें ओज का अभाव बहुत है फिर भी उसमें प्रसाद गुण है। उनका हृदय जैसे बहुत भारी रहता है। किसी भी दशा उनमें उल्लास हिलोरें नहीं भरता।

नन्हीं-नन्हीं फुहारों का पड़ना, रात भर मेघों का गर्जन सपनों की रेशमी डोर का टूटना उचटी नींद पर बिजली का अपनी कजरारी सेज पर तड़प उठना।

—कन्हैयालाल 'नंदन'

इत्यादि दृश्यों की सी उद्वेग भरी उत्तेजना उसमें कहीं मिलती ही नहीं।

धरती का सुकुमार गात है। उसे जेठ मास की संझो-तपती दोपहरी ऐसे झुलसा डालती है जैसे वह कोई विषाक्त का फूल हो।

—कन्हैयालाल 'नंदन'

जब वर्षा आई है तो कवि सहसा सरस हो उठता है। उसको लगता है मानो मिलन का

केले के सने-सी जिंदगी तनी हुई
पातों पर शबनम की टिपिर-टिपिर

—शिवमूर्ति सिंह

अन्त में हम यह मानते हैं कि नया कवि बहुत जीवित है परन्तु उसके जीवन की अनुभूति में एक ही दोष है कि वह अभी अपने दृष्टिकोण को स्थिर नहीं कर सका है। पर हम जो भी तो नव युग का भार सह रहे हैं। कौन जाने हमारी इन हलचल में से ही वह नया युग अभी और निकलने को है जिसे अभी हम पूरी तरह से समझ नहीं पा रहे हैं।

त्यौहार आ गया हो। उसके स्वर में एक वाचालता भर आती है। सुयोगी बहुत ही सरल सौष्ठव से वर्षा का बड़ा हृदयग्राही वर्णन करता है। उसके काव्य में नजीर का सा मुहाविरा मिलता है जो काव्य में बड़ा उभार लाता है

कि देखो आया मिलन त्यौहार
खेतों की मेड़ों से बलाता उनका रिमझिम प्यार।
दूर-दूर तक टेढ़ा हरियाली नागिन-सी बल खाती
ताल-तलैया में लहराती भरी जवानी गाती
मधु बरसने की बेला यह तो करलो आँखें चार।
कहीं उतरते मेघ धरा पर मल्हारें-सी गाते
किसी सघन घाटी पर थककर पछी गीत सुनाते,
सावन की रत बड़ी सुहानी श्यामघटा लहराती
जैसे कोई नयन मिलाकर नयनों में शरमाती
धीरे धीरे भरत नयन से करता कोई वार।
अमवा पर कोइलिया बोली झूम उठी मन डाली
पल घिरे हैं नभ में जैसे झुक आई अधियाली
सपनों में इक हंस उड़ा था नील पर फैलाता
कभी घरकर चाँद दूधिया नयन घूमता जाता,
धीरे-धीरे मुक्त धरा पर उतरा सजल प्रभात।
उनके नयनों के कांटे ने मन की मछली पकड़ी
घायल करके छोड़ दिया जब मेरी नस-नस फड़की
प्राण प्राण चिल्लाता फिरता पर बल खा जाती हैं
एक बूंद बिन प्रान तोड़ता पर मुस्का जाती हैं
कलियों के मासूम दिलों में छिपे हुए हैं सार।
धरती का मुख चूम रही है अंबर की उजियाली
अंबर का मुख चूम रही है धरती की हरियाली
मेरे मन में विरह तड़पता मैं किसका मुख चूमूं
कैसे जीवन के बादल से अपनी बिजली ढूंढूं
धरती की छाती पर होती चुबन की बौछार।

—शिवनारायण सिंह सुयोगी

प्रभात आया है। सारी प्रकृति आनन्द से सराबोर होकर एक कामना से भर गई है। सहसा ही कवि का अपने एकांत का ध्यान हो आता है। किन्तु धरती पर होती हुई चुबनों की बौछार को वह नहीं भूलता।

धान के खेतों की सुगंधि की भांति कविता कागज पर आती हुई जादू-सी है। बहुत दूर तक रेत की सलहटों में मन्द-मन्द हवा घूम रही है जैसे पानी पर कागज

की गन्ध हो कल्पना-कमलिनी उड़ी-उड़ी लगती है। सामंतीरथ का कोन झुका हुआ सा डूब रहा है। चिड़ियाँ टुहुक-टुहुक बतिया रही हैं बढ़ते हुए बाजरे के खेत काँप रहे हैं, पलाश के पत्तों पर श्रद्धा के कीड़े हैं ईख के पत्तों पर फतिंगों का प्यार खेल रहा है।

—शिवमूर्ति 'शिव

ऐसी है यह वर्षा

अन्यत्र कवि इसको प्रेम की डोर में बाँधकर देखता है

> वेणु बजी सुधि के कदम्ब पर मन फला रे
> श्याम गई बिजली सो कोई
> साँस-साँस के तार म
> दिल की एक एक धड़कन
> गूँथने की आकुल प्यार में
> नयन हिंडोले पर यह प्रीति पवन झूला रे।
> पारस परस तुम्हारी सुधि का
> पावन पावन प्राण हो गए
> पिघल पिघलकर पानी मन के
> घनीभूत अभिमान हो गए।
> मन की रानी का मन धाम बना झूला रे।

—नगेन्द्रकुमार

जसा हमने अभी कहा है ओज की अभाव भरी छाया म भी कवि कभी प्रसाद से नहीं हटता। एक क्षण आता है जब यह आनन्द का स्वर उठाना चाहता है। उस समय उसम एक बड़ा आकर्षक माधुरी मिलती है। किन्तु उसका भाव विषाद हो पर विश्वास नहीं पूरा आतम्ब तो रोना है फिर भी उसमें एक हल्की-सी चपलता मिलती है

> पीके फटे आज प्यार के पानी बरसा री।
> हरियाली छा गई हमारे, सावन सरसा री
> बादल आये आसमान म धरती फूली री
> भरी सुहागिन भरी माँग में भूली भूली री,
> बिजली चमकी, भाग सखी री दादुर बोले री,
> अन्ध प्राण ही बही, उड़े पछी अनमोले री।

—भवानीप्रसाद मिश्र

स्फुरण म जो प्राण है वह अथानक ही उठ आता है। उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह तो मानो कवि म पहले से ही उपस्थित रहता है।

अब रोष क्यों? आ जाओ! रिमझिम हो रही है। बहारें जगके तार पर

मल्हार छेड़ रही हैं। सुयोगी में यह विशेषता है कि वह उत्सुकता और समस्या का हल साथ-साथ देता चलता है

> आ भी जाओ
> बहारों ने रिमझिम के तार पर है
> छेड़ी मल्हार
> ये बरफीली ऋतु है बरफीली आग
> गगन से धरा तक जितने हैं तार
> हर नया गीत हैं मौज का छेड़ते
> हर दिशा श्याम रस में मगन है अपार
> यह पानी का घूंघट हटा दो जरा
> इस टूटी जवानी का ले लो सितार
> हरियाले खेतों की उठती जवानी
> हर पत्ता सुनाता है दिल की कहानी
> चांदनी बरसती या चांदी का रंग
> ये चंपा-चमेली बनी हैं दिवानी
> ये सहरा के झूमी हँसीं पोखरें
> 'पी कहाँ पी' से गूँजी है सारी बहार
> ये जो चारों तरफ तर लचक डोलती
> बह रही है मलय-मुख चिबुक मोड़ती
> इन आवारा आँखों को क्या दोष दूँ
> यह जो हर ओर भरती कसक होड़-सी
> यह जो जूही के अंगों से है झाँकती
> चमक पटबीजनों की जगमग अपार
>
> —शिवनारायण सिंह 'सुयोगी'

सब कुछ उठे-से लगते हैं क्योंकि वर्षा के खेतों की उठान बड़ी घनी होती है। देखने को लगता है जैसे आकाश धरती के पास आ गया हो। कवि उसे जवानी कहता है। कभी-कभी चंदा निकलता है तो बड़ी सुहानी चांदनी निकल आती है। पपीहा बोल रहा है। वह तो निरंतर बोलता है। उस हर ओर भीगी भीगी-सी कंपन भरी लोच दिखाई देती है। जूही के अंगों में से पटबीजनों की चमक झांकने लगती है।

कवि के शब्दों में हम यौवन का रस मिलता है। नयी कविता में भावों को मध्यकालीन सरस अभिव्यक्ति का सा आसरा कम मिलता है। भारतेन्दु की परंपरा में ऐसी ही कविता का विकास संभव लगता है।

खेतों के बीच में जल डोलता है ऐसा लगता है जैसे छाती के झोलों में रस डोल रहा हो। इस कवि के शब्दों में मचलती रवानी हम बहुधा मिलती है। जब लहर पर

लहर हम पकड़ती मिलती है तो सुन्दर दृश्य उपस्थित होता है

यह खेतों के बीचों में जल डोलता
लगता छाती के झोलों में रस डोलता
लहर हर लहर पर पड़ी हो मगन
मन की गागर में सावन है रँग घोलता
तिनका तिनका झूला है चटरिया का धान
कहीं टूटी है बिजली उठी है पुकार

प्रतिध्वनि गुंजाकर यह कहता है

प्यार-गलियों में पायल के घुँघरू बजे
मन के पल मगन ताल दे दे नचे
लो गीत के डाल पर कुछ इशारे हुए
काली आँखों में डोरे गुलाबी खिंचे
बाँह में बाँह भरने को बेकल बेदार
सतरंगा हुआ है ये हृदयों का भाव

और

मौज की डोर में मन का भूला पड़ा
पग धागा को छूती क्षितिज का सिरा
डाल पर कूकी कोयल चुकी हूक भर
लो उमड़ती जवानी का मचला जिया
उमगों में भर है लचकती कमर
उरोजों में यौवन का फैला कछार

इस नयी उपमा के उपरांत यह कहता है

महुए छोड़ती लट में मुखड़ा छिपा
काली आँखों में अपनी जवानी छुपा
गोरी बाँहों का लेकर सहारा बढ़ूँ
जो है मुझको मिला वह ही मुझको मिला
सुनहली घटाओं की भोली फिमार
वो उठा ! आज असमय न रोके ये लाज

—हरिनारायण सिंह 'सुयोगी'

नर और नारी के संबंधों को वह समान मानता है। पुरुष और नारी दोनों ही को सृष्टि से सौन्दर्य को परखने की एक ही सी वासना प्राप्त हुई है। अतः परस्पर रत होने की आवश्यकता ही क्या है। दोनों में परस्पर व्यवधान क्या है ?

इस दृष्टिकोण से इतनी मुखरता से कम ही नये लेखकों ने लिखा है। सुयोगी में हमें संतोष नहीं मिलता, क्योंकि उसमें स्वस्थ चिंतन है कलुषित नहीं।

प्रेम जब वन्ना से भर जाता है तब कवि की आत्मा को अपने हर आँसू में प्यार का ईमान दिखाई देने लगता है। यह कल्पना बड़ी चुभीली है। प्यार का भी एक मन होता है और वह विश्वास में आविष्ट रहता है। कवि की कोमल भावना बड़ी सरस है

हर गान मेरा प्राण की पहचान है
हर अश्रु मेरा प्यार का ईमान है।
जब मेरु-सा तन धस गया मधु श्वास में,
प्रिय प्यार का मन जी बसा विश्वास में।
है यह बिजली बादलों की बाँह मे
स्वर सात बन्दी एक कवि की आह में।
जब बादलों से भीगता आकाश है
तब जागती मरु के हृदय की प्यास है।
हर प्यास प्रिय के पथ की पहचान है
हर पथ राही के हृदय का गान है।

—शिवबहादुर सिंह

संगीत की अनंत मधुरिमा कवि की वेदना में रहती है जिस प्रकार बादल के भीतर बिजली होती है। जब व्यापक में सरसता दिखाई देती है तभी ममात्मक जीवन को अपने अभाव को दूर करने की चाहना होती है। दार्शनिक दृष्टिकोण से यह तथ्य बड़ा महत्वपूर्ण है। प्रकृति ही प्रेम की व्याकुलता का शमन करता है। शिवबहादुर सिंह की कविता में इस प्रकार की बहुत-सी बातें अनायास मिल जाती हैं जिनकी ओर कवि पहले में कोई संकेत नहीं करता।

किन्तु एक बात हम अवश्य पाते हैं कि नागरिक कवि को ग्राम चित्र अच्छे लगते हैं। यह ठीक भी है, क्योंकि प्रकृति को स्वतन्त्र छूट ग्राम में ही प्राप्त होती है। ऐसा ही एक आकर्षक चित्र है

आम और जामुन के श्यामल फूले-फूले कुंजों में
झूल रहीं झूला किशोरियाँ हिलमिल हर्षित पुंजों में
ऊपर तड़-तड़ ध्वनि से मंजुल करती कोमल रंगरेली
पत्तों पर पड़ रहीं मेघ की बूँदें मोती-सी उजली
सो फिर घुड़ड़-घुड़ड़ घुड़ करता घिर घन-पुंज घुमड़ आया
रिमझिम रिमझिम बरस रहा थल हरा-भरा सावन आया।
विदा करा निज प्राण पिया को मके से वह ग्राम युवक
चला जा रहा हरे भरे वन की पगडंडी से निधड़क
बजा रहा है मधुर बाँसुरी तान छेड़ मतवाली-सी

पीछे-पीछे चली आ रही लाल मोढ़नीवाली-सी।
आज प्रमियों के हित सावन नये सँदेसे है लाया।

—रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

इसमें किसी एक व्यक्ति की बात नहीं साधारणतया सावन किस प्रकार प्रेमियों के लिए नये सदेश लाता है यही भाव मुखर हुआ है। कालिदास के युग में भी इसी प्रकार का चित्रण होता था जिसमें हम किसी व्यक्ति विशेष को न पाकर भी, अपने सामने किसी भी चित्रित पात्र से तादात्म्य कर लेते हैं। इसके उदाहरण हम रीतिकालीन कविता में भी मिल जाते हैं।

नयी कविता में संगीतात्मकता के विषय में हम लिख चुके हैं। जानकीवल्लभ ने मेघरव में मंद्र सांद्रध्वनि द्रिम द्रिम द्रिम उन्मद मृदंग की ही नहीं लिखा उसने अन्यत्र कहा है

बजी आज घन में!
सरस रणन ध्वनि प्रतिध्वनि गूँजती जो मन में!!
सर छलका, सरि उमगी
पुलकित अवनी-वनी,
दुक झुक झुक झूम रहा
गगन जीवन-धनी
कौन मौन हेर रहा—टेर कहाँ वन में!
सुर-लय में अपने को
आतुर उर भावना
काँप रही, काँप रही
भाँक रही उन्मना,
झर झर झर बिखर रही यह क्या कण-कण में!
बजी आज घन में।

—जानकीवल्लभ शास्त्री

ऐसी कविताओं में शब्दों पर अपूर्व अधिकार दिखाई देता है। रूप की कल्पना ही ऐसी रचनाओं का प्राण बनती है। इसके साथ ही अन्य कवियों ने मेघ को अनेक पर्यायों के रूप में लिया है। बादल संसार में अपना बहुत महत्त्व रखता है। उसकी विध्वंसक शक्ति को देखिए

सनातन रूढ़ियों में फसकर जब नर नहीं उठता तब अपने देश को बढ़ाने के लिए अपना कवि रूप पाता हूँ। जल और विद्युत् धारण करनेवाले मेघ-सा कवि मैं कभी नीर बरसाता हूँ कभी बिजली गिराता हूँ।

—मुरलीधर भंडार व शरद

ध्वंस पर नये निर्माण के लिए है। इस जगह व्यक्ति केवल अकेला नहीं है।

यहाँ भी 'यह नहीं है' व्यक्ति का नया रूप है।

स्वयं वर्षा ऋतु के भी नये रूपों का उल्लेख प्राप्त होता है। आषाढ़ पुरुष है और इसलिए नरेन्द्र ने बड़ी कोमल कल्पना की है। उसने आषाढ़ को ही अपना नायक बनाया है। जामुनों से पेड़ लद गए हैं वह मानो उसकी पगड़ी है जिसके छोर उड़ रहे हैं

पकी जामुन के रंग की पाग
बाँधता आया, लो आषाढ़!
हर्ष-विस्मय से आँखें फाड़
देखतीं कृषक सुताएँ जाग
नाचने लगे मोर सुन शोर
लगी बुझने जंगल की आग,
हाथ से छुट खुल पड़ती पाग
झूमता डगमग पग आषाढ़!
जरी का पल्ला उड़-उड़ भाग
कभी हिल झिलमिल नभ के बीच
बन गया विद्युत-द्युति आलोक
सूर्य-शशि-उडु के उर से खींच!
और नभ का उर उड़ती पाग
झूमता डगमग पग आषाढ़!

—नरेन्द्र

गाँव की लड़कियाँ इस मद पुरुष को देखकर पुलक-विस्मित हैं। मोर शोर कर रहे हैं। पगड़ी खुल-खुल जाती है—कहकर कवि ने हवा में कंपित जामुनों का सजीव चित्रण उपस्थित कर दिया है। बिजली उस पगड़ी की जरी है! और भीगा हुआ आषाढ़ झूम रहा है। इसी प्रकार एक कवि-हृदय ने कहा है।

सखि! सजल घटाएँ घिर आईं। तिमिर कण विद्युत उलझाये हैं। मधु को लेकर बदली नाची है कण-कण में नयी चेतना जाग उठी है। हे सखि! स्नेह से तोलती चलो इस जीवन का कुछ मोल चुकायें।

—कुमारी रूपकुमारी वाजपेयी

बादल घन बालों की भाँति हैं काले हैं बिजली उनमें उलझ गई है। जीवन का मोल चुकाने का आवाहन है। इस विषय में पुरुष इतना तत्पर नहीं जान पड़ता जितनी नारी। आखिर क्यों? क्या नारी ही सारा ऋण अपने ऊपर लिए हुए है? इसका एक कारण है। यद्यपि प्रकृति के उद्दीपन रूप ने मध्यकालीन काव्य में पुरुष कवियों के माध्यम से स्त्री पात्रों को अधिक विचलित होते हुए दिखाया है परन्तु सत्य यह है कि नारी इतनी स्वतन्त्रता नहीं प्रकट कर सकी है जितनी कि पुरुष। यह हमारे

संस्कारों की बात है। आधुनिक यौन सम्बन्धों का इसपर गहरा प्रभाव है। समाज के अनेक चित्र नये काव्य में आते हैं और उनकी अभिव्यक्ति भी अपने नये ढंग से होती है

पीपल की डाली झुक आ री
मैं टुक भूला भूलूंगी !
देवराज—यमराज गगन से वंजर उवर सींच रहा,
मृग्ध धर्मों का पट्ट फहफहा हौले-हौले खींच रहा
टँकी मँदवियाँ बीरबहूटी मखमल सी यह कोमल घास
आ रे भैया, तू कदम्ब बन फूलपात से भर आकाश
मैं सुरभित कोंपलें बिछाकर
लाल ललयाँ छू लूंगी !
मेरा भैया है कदम्ब, मैं
बहन कलकी, फूलूंगी !!
राखी का त्यौहार मनाने भैया हो आया आगा
पर सावन के पूनम को दे कौन बांध सुरधनु आगा ?
तू भाभी लाए तो वह नभ भी उतार धरती पर ले,
छीने मेरे नेग ओग तेरी सुमधुर चुपके हर ले
युग-युग जिए, बलयाँ लूं,
मैं भी क्या तुमको भूलूंगी ?
पीपल की डाली झुक आ री
मैं टुक भूला भूलूंगी !

—जानकीवल्लभ शास्त्री

इतनी सुन्दर कविता बहुत कम हैं। बड़ी ही सरलता है पारिवारिकता है प्रकृति का अत्यन्त सान्निध्य है लोकगीत की सुषमा है और कल्पना भी नवीन है यद्यपि बात को पुरानेपन में रंगकर नया किया गया है और यह और भी अधिक आकर्षक है। सारे सावन का चित्र आँखों के सामने घिर आता है। ऐसा सजीव चित्र या तो राजस्थानी काव्य में मिलते हैं या फिर जानकीवल्लभ में। यह एक श्रेष्ठ सर्वाक्रिता है जो अपनत्व नहीं खोती परन्तु बड़ी व्यापक होती है। रेवतदान के अनेक चित्र ऐसे ही आकर्षक हैं।

जिस प्रकार यूरोपीय साहित्य में चरागाह के जीवन की मस्ती मिलती है (जिस रूप से यूरोप साहित्य में भी Pastoral कहकर रखा जाता है) उसी प्रकार राजस्थानी कवियों में भी हमें रसा की प्रचुरता और मस्ती भरी हुई मिलती है

फूल उठी सावन की संध्या नभ पर फूली रे
गगन गुलाबी,

कुकुम माभी,
हरी भरी धरती हरयाली
उतर रही भेडों को लेकर
शिखर ढाल पर रवलो' गाती
और मौलश्री की डाली पर कोयल भूली रे !
पछी उड़ते,
थके उतरते
अपने सुन्दर पंख हिलाते
अलगोजे पर तान मिलाते
रज्जो' 'मानू' आल्हा गाते
।।रग' चलती रुकी 'अहीरन सुधबुध भूली र ।
रवि अस्ताचल
वात सुचचल
मुखरित है भ्रमर का गुंजन
'अधकार बढ़ता आता है'—
देख रही पनघट पनहारिन
खोंच रही कुछ भाव चितेरी ले मन तूली रे ।

—शलभ

शलभ ने सब कुछ बाहर का कहा है परन्तु उसका सब 'बाह्य' मन को कितना छूता है ! सावन की सध्या एक फूल की भांति आकाश में दिखाई है। फूल गुलाबी है किन्तु उसकी नाभि सुनहली है। इसके बाद वह धरती पर उतरता है। तनिक शात रहकर चित्र को मन में उतार लीजिए। सुनहले गभ का गुलाबी पखरियों का फूल है एक आकाश में और नीचे हरे भरे अगमग पहाड़ पर सफेद भेड़े उतर रही है और मौलसिरी की डाली पर कोयल बोल रही है। पछी उड़ जा रहे हैं अलगोजों पर तानें छिड़ रही हैं। रवतदान कहता है—

ठुमुक ठुमुक पग धरती नखरा करती
हियड़ो हरती, बींद पगलिया धरती
छम छम आवै
विरखा बीनणी !

इसी प्रकार निंदियारे नयनों से एक कवि पावस की भूलती घटाए देखता है

छाये पावस के मेघ कारे कजरारे ।
युग-युग से प्यासे पातों के अब अधर धुले

घन म सोई पीड़ा के गीले नयन खुले
मुस्काती पास तड़ित अचल की ओट किये
बरसे घन-घनकर अम्बु अम्बर के सारे
वन पार कहीं मोरों की मधुर मल्हार उठी
सूनी डाली पर पी की करुण पुकार उठी
हर ओर हरी चूनर ओढ़ कोई लगता
ये देश म पाते मन मौन, निदियारे—

—जगत्प्रकाश चतुर्वेदी

नयन डबडबा जाते हैं गोया बरसात भीतर बाहर एक हो गई है। एक कवि नयन की गरिमा म बरसात को बुलाता हुआ कहता है

आँख में आँसू बूंद न आये, सावन क्या कहेगा ? इतना प्यार दो कि मदिर डोल जाये, ऐसे कि तुम तो न बोलो परन्तु प्रतिमा बोल जाये। सृष्टि के सारे नयन तो मुस्कान का वरदान लाये हैं, किन्तु मुझको आँख में सजल बादल मिला है।

—मुकुटबिहारी सरोज

जानकीवल्लभ शास्त्री न कहा है कि स्वाति का मेघ प्यास नहीं बुझा सकता। दूर देश के वासी किसी की आशा को पूर्ण नहीं कर सकते।

परन्तु चलो ! अब बादल को बुला लाए। बहुत देर हुई। कुछ हमारी भी तो इच्छा पूरी हो। हमारा कहा क्या वह मानेगा नहीं ? हम उस इतनी दूर रहे ही क्या ? हमारे मन म अँधियारा है तो क्या ? मन म विद्युत् भी तो है ! उससे अपने मन म उजाला क्या न भरने को कह ? सूनापन क्या दूर नहीं होगा ? कवि कहता है

बरसो-बरसो रसधर बरसो।
इस आँगन में जलधर बरसो।
तुम बिजली की मुस्कानों से मेरा सूना अतर भर दो
तुम प्यार भर मधु बोलों से मेरा मानस मुखरित कर दो।
तुम मेरे प्यासे अधरों पर जलधर बरसो
इस जीवन के सून मन में बादल के फूल खिला दो तुम
अपनी चितवन से रस बरसा जीवन का जाम पिला दो तुम
धरती पर नयी चेतना बन मधुरस बरसो

—शिवचं नागर

यह मघ आया या ! सब एक सपने-सा भर आया था। जेठ की तपन के बा दुए देखा था तब कितना सुन्दर लगा था। घनश्याम न दाता की तुलना की है चकार के पागलपन स और वास्तव में वह नयी बात है

ढल गई दुपहरिया जेठ मास की चुपके से
श्रोले असाढ़ का अम्बर कजरायासा है।
छिप गई वधू-सी लाज मारकर स्वर्ण धूप
शीत रजत बादलों के घूँघट में पल-भर को,
है दौड़ रही कजरारी छाया धरती पर
अम्बर में बहते श्याम-सलोने बादल की,
ज्यों दौड़ रहा जैसे चकोर का पागलपन
उस कभी न मिलने वाले विधु की आस लिये।
लेकर मादक मल्हार गुलाबी अधरों पर
मुस्करा उठी धरती पसार शरबती नयन
झुक गई डालियाँ आम मुख की लाज भरी
मत नयन किसीकी आकुल मौन प्रतीक्षा में।

—घनश्याम अस्थाना

घनश्याम में रूप की बड़ी रंगीन अनुभूति है। उसकी आँखों में गुलाबी अधर हैं और नयन हैं शरबती। कौन-सा रंग या दावत ! नहीं ! यहाँ 'सुस्वादु' की अभिव्यक्ति में जो मिठास है उसे वह रंगों के बीच में रखकर नयनों के साथ-साथ अन्य कृतियाँ भी देता चलता है।

धीरे-धीरे फुहार गिर रही है। कोई दूर दूर रटता हुआ गाता चला जा रहा है। दूरागत ध्वनि सुनने में और भी अधिक आकर्षक लगती है और वह भी तब जब उसे सुनने में ध्यान केन्द्रित करना पड़े

मन्द-मन्द आज हो रही फुहार री
दूर-दूर कोई गा रहा मल्हार री।
आज मन-सा गगन हुआ सजल-सजल,
बादलों का हरसिंगार है तरल-तरल।
फल-फूल आज झर रहा निहार री!
मन्द-मन्द नभ की हुई फुहार री!
मौन-मौन भीगती धरा हरी भरी
डाल डाल भीगती लगी डरी डरी।
पीउ पीउ कर किसे रही पुकार री?
मन्द-मन्द प्रीति की हुई फुहार री!
जाग-जाग जुगनुओं-सा बुझ रहा है कौन?
झाँक झाँक बादलों में छुप रहा है कौन?

बिछ'कर रही सलज-सलज सिंगार री!
मन्द-मन्द रूप की हुई फुहार री!

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

यहाँ पावस का कौन-सा रूप रह गया ? एक रह ही गया। वह है वेदना की अनुभूति। पर वह अन्यत्र है

मेघों की यह अश्रुमाला अवनी की वरमाला बनती हुई, कृषकों के खेतों मे मनों में हरियाली बनकर फूट पड़ी है। बागों में अब झूला डालकर सखियाँ निराले गीत गा रही हैं। पर मेरी आँखें बरस रही हैं। क्योंकि साजन दूर हैं।

—हरानन्दी चतुर्वेदी

या पावस के सारे रूप ही लगभग सामने आ गए। पावस के बाद शरद आई। शरद ने प्रकृति को नया रूप दिया। किन्तु जिस रूप में नयी कविता म फागुन से पावस तक का समय आता है वसा और ऋतुओं का प्राय नहीं आता। हम यह सकते हैं कि नया कवि प्रकृति के उसी रूप को अधिक देखता है जिसम उस रूप का नव जीवन विकास या हलचल का कोई स्वरूप दिखाई देता है। अन्यथा वह प्रकृति से अपना रागात्मक सबंध नहीं जोड़ पाता। हम यह नहीं कहते कि अन्य समय का वर्णन वह नहीं कर पाता, अवश्य ही सुन्दर करता है किन्तु उसका स्वर उस समय बदल-सा जाया करता है

क्वार की स्निग्ध दारचती शाम
मद भरी देह की अंगड़ाई-सी
सफेद कागज के टुकड़े-से बादल
किरन-सी हल्की पुरवाई भी
धूल से उठती हुई गंध
मन से उठती हुई सदाएँ भी
नयन खामोश झुकी-सी पलकें
ताजगी-सी आ रहीं दुआएं भी
पारिजात की कलियाँ मंदी हुई
जूही की अधखिली जवानी भी
शबनम की मिट रही रोशनी
फैल रहा रंग आसमानी भी
मैं अपनी कविताएँ लिखता
सूख रही है हल्की स्याही
गरम-गरम पानी से उमंग मे बावलि
सरिता सरोवर भी छिपिर छिपिर